मम्मटोत्तरयुग में भारतीय काव्यशास्त्र में नूतन अवधारणाएँ

रामप्रताप

मम्मटोत्तरयुग में भारतीय काव्यशास्त्र में नूतन अवधारणाएँ-नामक इस प्रस्तुत में काव्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वों का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के वैशिष्ट्य को बताकर मम्मटोत्तरयुग की प्रमुख विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया गया है। मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने काव्यात्मसम्बन्धी विचारों के ऊपर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की है जबकि मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्यशरीरसम्बन्धी शब्दकाव्यतावादादि के बारे में गम्भीरता के साथ चिन्तन किया है। काव्यलक्षण, काव्य में अलङ्कारों का स्थान, सङ्केतग्रह, चतुर्विधा लक्षणा, व्यञ्जना की एकमात्रवृत्तिता, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यभेद, रस, भाव, अलङ्कार और चमत्कार में से किसी एक के होने पर काव्यत्व बना रहना जैसे विषयों पर विचार प्रकट किए गए हैं। चमत्कारसम्प्रदाय का प्रवर्तन, समर्थन, संवर्धन एवं प्रतिष्ठापन मम्मटोत्तरयुग की सर्वोपरि उपलब्धि है। भरतमुनि से लेकर आधुनिकतम काव्यशास्त्री आचार्यों ने काव्य में विद्यमान इस चमत्कार तत्त्व को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया है फिर भी चमत्कारसम्प्रदाय को आधुनिक काव्यशास्त्र में यथोचित सम्मान, स्थान एवं मान्यता नहीं मिल सकी है। इस स्थिति में शीघ्रातिशीघ्र सुधार होना चाहिए।

प्रशंसन्ति चमत्कारं चमत्कृतधियो बुधाः।
प्राचीनास्ते नवीनास्ते ह्यतिनवीनकोविदाः।।
सर्वेषां सम्प्रदायानां येनास्ति सम्प्रदायता।
चमत्कारः कथं सोऽयं सम्प्रदायो न गण्यते।।

ISBN : 81-7854-060-6 Rs. 300-00

मम्मटोत्तरयुग में भारतीय काव्यशास्त्र में नूतन अवधारणाएँ

रामप्रताप

प्रमुख अनुसन्धाता एवं पूर्व प्रोफेसर स्नातकोत्तरसंस्कृतविभाग
जम्मूविश्वविद्यालय, जम्मू (तवी)

BOOK EASTERN EBL LINKERS

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर,
दिल्ली–110007
दूरभाष : 23850287, 30919869
e-mail : ebl@vsul.net

प्रथम संस्करण : ईशवीय सन् 2005

मूल्य : 300–00

आई.एस.बी.एन्. : 81–7854–060–6

मम्मटोत्तरयुग में भारतीय काव्यशास्त्र में नूतन अवधारणाएँ

लेखक : प्रो० रामप्रताप

टाईप सैटिंग : अजय प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली
मुद्रक : आर. के. ऑफसेट प्रौसेस, दिल्ली–32

Mammatottarayuga Men Bharatiya Kavyashastra Men Nutana Avadharanaen

DR. RAM PRATAP
Principal Investigator & Ex-Professor, P. G. Department of Sanskrit, Jammu University, Jammu Tavi

EASTERN BOOK LINKERS
DELHI :: (INDIA)

Published by :
Eastern Book Linkers
5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
Delhi-110007
Ph. : 23850287, 30919869
e-mail : ebl@vsul.net

First Edition : 2005

Price : 300-00

ISBN : 81-7854-060-6

Mammatottarayuga Men Bharatiya Kavyashastra Men Nutana Avadharanaen

By : Dr. Ram Pratap

Type Setting : Ajay Printing Works, Delhi

Printed at : R.K. Offset Process, Delhi-32

प्राक्कथन

काल की दृष्टि से संस्कृतकाव्यशास्त्र तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है–1. आचार्य भरत से लेकर आचार्य मम्मट तक 2. आचार्य मम्मट के बाद से लेकर पण्डितराजजगन्नाथ तक 3. पण्डितराजजगन्नाथ से लेकर आधुनिक आचार्यों तक। संस्कृतकाव्यशास्त्र के अधिकांश अध्येताओं, आचार्यों और समीक्षकों में यह धारणा पनपती रही है कि मम्मट पूर्ववर्ती, मम्मटोत्तरवर्ती और पण्डितराजजगन्नाथ के समय तक संस्कृतकाव्यशास्त्र का बहुत विकास हुआ था किन्तु उसके बाद यह अवरुद्ध हो गया है। परन्तु जब हम अनुसन्धानात्मक दृष्टि से सम्पूर्ण काव्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हैं तो उनकी यह धारणा आंशिक सत्य तक ही सीमित रह जाती है। हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि भरत से लेकर आधुनिक काल तक संस्कृतकाव्यशास्त्र की यह धारा अनवरत और अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही है भले ही इसमें यदा कदा यत्किंचित् गतिरोध कुछ समय के लिए आया हो। केवल भरत और भामह के बीच के लगभग 400 वर्षों में कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है। समय समय पर अनेक आचार्यों, टीकाकारों एवं आलोचकों ने काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन किया है। कतिपय आचार्यों ने किसी एक अङ्ग का विवेचन किया है तो कुछ टीकाकारों ने प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों पर टीकायें लिखी हैं। मौलिक तथा अमौलिक उभयविध ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। लक्ष्यलक्षण ग्रन्थों के निर्माण से काव्यशास्त्रीय चिन्तनक्रम लगातार चलता रहा है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि सभी लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखकों से अधिकांश सामग्री ग्रहण करते हैं और फिर उसे परिष्कृत करके नया सा रूप दे देते हैं। सामान्यत: किसी भी आचार्य की अपनी नई उद्भावना थोड़ी मात्रा में होती है। मम्मट, विश्‍वनाथ और पण्डितराजजगन्नाथ सदृश दिग्गज आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध विचारों एवं सिद्धान्तों का भरपूर संग्रह किया है और फिर उन्हें आत्मसात् करके अपने स्वतन्त्र ग्रन्थों में समुचित एवं समन्वित रूप में रखा है। पण्डितराजोत्तर अतिनव्य आचार्यों, टीकाकारों और समीक्षकों ने भी विगत दो हज़ार वर्षों की उपलब्ध काव्यशास्त्रीय सामग्री का प्रचुर मात्रा में उपयोग करके स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है। साहित्यबिन्दु के रचयिता छज्जूराम तथा काव्यप्रकाश के टीकाकार वामनाचार्य झलकीकर जैसे अतिनवीन आचार्यों का महत्त्व प्राचीन एवं

नवीन विश्वनाथादि आचार्यों की तुलना में किसी प्रकार कम नहीं है। पूर्ववर्ती मम्मटादि आचार्यों, टीकाकारों एवं समीक्षकों की कृतियों में उत्तरवर्त्ती मनीषियों द्वारा किया गया - कारिका, व्याख्या और भेदप्रभेद सम्बन्धी थोड़ा सा भी परिष्कार, परिवर्तन परिवर्धन मौलिकता की परिधि में आ जाता है। यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्—इस उक्ति की प्रामाणिकता एवं सार्थकता स्वीकार की जाती है। अतः उत्तरवर्ती विद्वानों के ग्रन्थों की गुणवत्ता, प्रामाणिकता और उपादेयता के प्रति सन्देह, अवमूल्यन और अनास्था की दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

मम्मटोत्तरयुग में संस्कृतकाव्यशास्त्र में नूतन अवधारणाएँ—इस प्रमुख परियोजना को पूरा करने के लिये मुझे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने आर्थिक सहायता प्रदान की है। इसके लिये मैं आयोग के अधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। प्रो० वेदकुमारी घई ने समय समय पर उच्च, उपयुक्त एवं उपयोगी सुझाव देकर इस प्रबन्ध को परिष्कृत किया है उनका मैं धन्यवाद करता हूँ। जम्मू, बैंगलौर, मैसूर, चेन्नई, देहली, होशियारपुर और वाराणसी के विभिन्न पुस्तकालयों में जाकर मैंने मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों का अवलोकन किया है। उन पुस्तकालयों के अध्यक्षों के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ। इसके साथ ही इस पुस्तक के प्रकाशक बन्धुद्वय श्री रवि मल्होत्रा तथा श्री दीपक मल्होत्रा का भी मैं आभारी हूँ।

रामप्रताप
प्रमुखअनुसन्धाता
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (दिल्ली)

विषयसूची

प्रथम अध्याय

आचार्य मम्मट, मम्मटवैशिष्ट्य तथा मम्मटोत्तरयुग

आचार्य मम्मट

(1) व्यक्तित्व

संस्कृत काव्यशास्त्र में कश्मीरी विद्वान् आचार्य मम्मट तथा उनकी कृति काव्यप्रकाश को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। इनका स्थितिकाल 1050-1100 ई० के बीच माना जाता है। काव्यप्रकाश की सुधासागरटीका के रचयिता भीमसेन ने मम्मट का परिचय स्वनिर्मित श्लोकों में दिया है उनसे यह प्रतीत होता है कि मम्मट कश्मीरदेशज थे। इनके पिता का नाम जैयट था। वाराणसी जाकर इन्होंने विद्या का अध्ययन किया। इन्होंने काव्य के सूत्रों को बनाकर स्वयं उनकी वृत्ति भी लिखी। साक्षात् सरस्वती देवी ही मम्मट के रूप में अवतरित हुई।[1] काव्यप्रकाश के 10वें उल्लास में उदात्त अलङ्कार के उदाहरण के रूप में दिये गये श्लोक में राजा भोजदेव (शासनकाल 996-1051) के दान की महिमा

---

1. शब्दब्रह्म सनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्
तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् कश्मीरदेशे पुमान्।
श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः
श्रीमन्मम्मटसञ्ज्ञया श्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन् ।।
मर्यादां किल पालयञ्शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरा-
च्छास्त्रं सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात्।
तद्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाशं स्फुटं
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात्।।
काव्यप्रकाश सुधासागरटीका, 1,1 वृत्तिभाग, 4-5 श्लोक

बताई है।[1] इससे आचार्य मम्मट की पूर्वसीमा 1050 ई० मानी जा सकती है। काव्यप्रकाश की माणिक्यचन्द्र द्वारा लिखी गई सङ्केतटीका का समय 1160 ई० है इसलिए इनकी उत्तरसीमा 1100 ई० के लगभग है।

काव्यप्रकाश के पञ्चमोल्लास में मम्मट ने कहा है- किञ्च कुरु रुचिम् इतिपदयोः वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम् नह्यत्रासभ्थोऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति।[2] कुरु रुचिम् इन पदों को उलट देने से काव्य में रुचिङ्कुरु इस पाठ में अश्लीलता दोष आ जाने से दुष्टता क्यों हो जाती है? यहाँ असभ्य (योन्यङ्कुर या भगनासा रूप) अर्थ अन्य पदार्थों के साथ अन्वित नहीं है इसलिए वाच्यार्थ भी नहीं है। इस पङ्क्ति की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने स्वनिर्मित दर्पणटीका में बताया है कि चिङ्कुपद कश्मीरी भाषा में अश्लील अर्थ को बताने वाला है। मम्मट ने अपने देश में असभ्यार्थ में प्रयुक्त चिङ्कुपद का प्रयोग किया है।[3] यह स्थल उनके कश्मीरी होने को पुष्ट करता है। रुद्रट, जैयट, उव्वट और कैयट आचार्यों के नामों की तरह मम्मट नाम भी है। ऐसे नामों की परम्परा कश्मीर में थी इसलिए मम्मट भी कश्मीरी थे। संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य मम्मट एक ऐसे विद्वान् हुए हैं जिनका प्रभाव कश्मीर तक ही सीमित नहीं रहा था अपितु उन्होंने सम्पूर्ण भारत के काव्यशास्त्रियों को अभिभूत कर लिया था। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि काव्यप्रकाश में बताये हुए सिद्धान्त उस चरमबिन्दु पर पहुँच गये हैं जहाँ से आगे उनके विकास की और अधिक सम्भावना नहीं रह गई है। मम्मट के बाद इनके समर्थक और आलोचक दोनों प्रकार के आचार्यों ने अपनी रचनाओं में काव्यप्रकाश की सामग्री का यथासम्भव, यथारुचि तथा प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है।

(2) कृतित्व

मम्मट की तीन रचनायें हैं- 1. काव्यप्रकाश 2. शब्दव्यापारविचार तथा 3. सङ्गीतरत्नमाला

---

1. मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभि र्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः।
दूराद् दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम्।। काव्यप्रकाश 10, 506
2. काव्यप्रकाश 5, 47 वृत्तिभाग।
3. वैपरीत्यं रुचिं कुर्विितिपाठः। अत्र हि चिङ्कुपदं कश्मीरादिभाषायामश्लीलार्थबोधकम्। काव्यप्रकाश 5,47 वृत्तिभाग दर्पणटीका।

1. काव्यप्रकाश

आचार्य मम्मटकृत काव्यप्रकाश काव्यशास्त्रविषयक सिद्धान्तों को जानने के लिए जिज्ञासु अध्येता एवं अध्यापकों की पूरी सहायता करता है। अनेक उत्तरवर्ती विद्वानों को काव्यप्रकाश का अध्ययन करके स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। आचार्य विश्वनाथ ने इसी के आधार पर अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण की रचना की है। इस ग्रन्थ के रहस्य को प्रकट करने के लिए माणिक्यचन्द्र, चण्डीदास, सरस्वतीतीर्थ, जयन्तभट्ट और वामनाचार्य जैसे विद्वानों ने सौ से भी अधिक संस्कृतटीकायें लिखी हैं। अंग्रेज़ी, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसकी अनुवाद सहित व्याख्यायें लिखी जा रही हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र का काव्यप्रकाश प्रतिनिधि ग्रन्थ है। काव्यप्रकाश विषय सामग्री के अनुसार 10 उल्लासों में विभक्त है। इनमें काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, काव्यलक्षण और काव्यभेद बतलाकर शब्दशक्तियों, रस, ध्वनि, रीति, गुण और अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। विभिन्न कारिकाओं में सिद्धान्त बताकर उनको स्पष्ट करने के लिए गद्य में वृत्ति लिखी है फिर उदाहरण देकर समझा दिया गया है।

2. शब्दव्यापारविचार

मम्मट की दूसरी उपलब्ध रचना शब्दव्यापारविचार है। यह भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण के रूप में बटा हुआ है। इसमें अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना का विवेचन किया गया है। मम्मट के नाम के साथ राजानक विशेषण का प्रयोग किया गया है। राजानक का अर्थ राजा के समान माना जाता है। इसकी विषयसामग्री काव्यप्रकाश से मिलती जुलती है। लघुकाय और अल्पविषयक होने से इसका अधिक प्रचार नहीं हो पाया है।

3. सङ्गीतरत्नमाला

आफ्रेट ने सङ्गीतरत्नमाला का उल्लेख मम्मट की रचना के रूप में किया है (काव्यप्रकाश ऑफ मम्मट गजेन्द्रगडकर भूमिका पृ. 10)

मम्मटवैशिष्ट्य

1. युगप्रवर्तकता

आचार्य मम्मट की प्रमुख विशेषताओं में एक विशेषता इनकी युगप्रवर्तकता है। जब कोई विचारक या तो किसी सर्वथा मौलिक सिद्धान्त की स्थापना करता है अथवा अपने से पूर्ववर्ती किसी सिद्धान्तविशेष में समुचित संशोधन और परिष्कार करके उसे नया सा और प्रभावशाली रूप दे देता है तो उस समय के विचारों में एक नई सी क्रान्ति आ जाती है। परिणामतः चिन्तनजगत् में एक नया युग आरम्भ हो

जाता है। इन दोनों प्रकार के असाधारण प्रतिभाशाली चिन्तकों को युगप्रवर्तक कहा जाता है। कश्मीर के इस आचार्य ने संस्कृतकाव्यशास्त्र के क्षेत्र में एक नवीन युग का सूत्रपात किया है। यद्यपि इनके ग्रन्थ में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है उन्हें पूरी तरह नूतन नहीं कहा जा सकता तथापि इन्हें अपने समय में प्रचलित कतिपय विवादास्पद विषयों को परिष्कृत करके उन्हें एक नया सा रूप प्रदान करने से युगप्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त है। लगभग 1200 वर्ष से यह विवाद बड़े उग्र रूप में चला आ रहा था कि काव्य में ऐसा कौन सा तत्त्व है जो उसे मन को उबा देने वाले दर्शन, मीमांसा और इतिहासादि विषयों से पृथक् करता है। भामह और दण्डी आदि मनीषियों ने अलङ्कारों को काव्य का प्राणप्रद धर्म बतलाया तो वामन ने रीति और कुन्तक ने वक्रोक्ति को। परन्तु इन आचार्यों के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय इस समस्या का पूर्ण समाधान नहीं कर सके। इन सभी के मत में कुछ न कुछ न्यूनता है—इस बात को बराबर अनुभव किया जा रहा था। परन्तु आचार्य मम्मट ने जब अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में हृदयग्राही एवं अकाट्य तर्क उपस्थित करते हुए रसध्वनि को काव्य का प्रधान अर्थात् जीवनाधायक एवं अपरिहार्य तत्त्व बतलाया तो यह सन्दिग्ध विषय बहुत कुछ परिष्कृत होकर एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में परिवर्तित हो गया। इन्होंने स्पष्ट रूप से बतलाया है—जैसे किसी मनुष्य की आत्मा के भीतर शूरता आदि धर्म सदैव नियत रूप से रहते हैं वैसे ही काव्य के आत्मभूत तत्त्व रस (इसका पूरा नाम रसध्वनि है) में उत्कर्ष को बढ़ाने वाले तथा अनिवार्य रूप से स्थिर होकर रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं। जिस प्रकार शौर्य आदि धर्म आत्मा के ही होते हैं शरीर के नहीं, इसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म हैं वर्णों के नहीं। रस में रहने वाले ये गुण उपयुक्त वर्णों के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। केवल वर्णों के आश्रित होकर नहीं रहते और जो काव्य में विद्यमान उस अङ्गी रस को शब्द तथा अर्थ रूप अङ्गों के द्वारा कहीं कहीं उत्कर्षयुक्त करते हैं वे अनुप्रासादि शब्दालङ्कार और उपमादि अर्थालङ्कार कहे जाते हैं। शरीर के शोभाधान द्वारा परम्परया शरीरी आत्मा के उत्कर्षजनक हार आदि दैहिक अलङ्कारों के समान ये अलङ्कार भी परम्परया काव्य के गौरव को बढ़ाया करते हैं।[1] शब्द तथा अर्थ रूप अङ्गों में अतिशय (चमत्कार) को उत्पन्न करके मुख्य रस को उपकृत करने वाले ये काव्य के अलङ्कार शरीर के कण्ठादि अङ्गों के उत्कर्षाधान द्वारा शरीरी आत्मा

---

1. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।

के भी उत्कर्षक हारादि के समान होते हैं। इस प्रकार यहाँ आचार्य मम्मट ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर, रस को आत्मा और गुणों और अलङ्कारों को काव्य के उत्कर्ष को बढ़ाने वाला तत्त्व माना है। आचार्य मम्मट से पहले भरतमुनि ने भी काव्य में सर्वोपरि महत्त्व रस को ही प्रदान करते हुए कहा है–नाट्य में रस से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है[1] और उसकी प्रतीति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के साथ स्थायिभाव के साथ संयोग होने से होती है।[2] किन्तु भरतमुनि ने रस और ध्वनि का अपने मत में सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया है। रस के साथ ध्वनि का यह नियतसम्बन्ध मम्मटाचार्य से पहले आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में ही मिलता है। इन्हें छोड़कर मम्मट से पूर्ववर्ती और किसी आचार्य ने रस के साथ ध्वनि का सम्बन्ध नहीं दिखाया है। आनन्दनर्धन के समान ही रस के साथ ध्वनि का अनिवार्य सम्बन्ध बताने के साथ मम्मट ने यह भी बतलाया है कि रसमयी रचना तभी उत्तमकाव्य का स्थान प्राप्त कर सकती है जब वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण हो।[3] जैसे विद्वान् वैयाकरण. प्रधान एवं स्फोटात्मक अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द को ध्वनि कहते हैं वैसे ही साहित्यिक विचारक वाच्यार्थ को

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्।

माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितै वर्णै र्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।

ये वाचकवाच्यलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः।

काव्यप्रकाश 8,66-67 वृत्तिभाग। अतिशायिनि और अनतिशायिनि शब्दों के प्रयोगों में अतिशय का अर्थ चमत्कार है। वही 1, 4-5 तथा वृत्ति

1. न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। नाट्यशास्त्र 6,32 वृत्तिभाग
2. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। वही वृत्तिभाग।
3. (क) तृतीयस्तु रसादिलक्षणप्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव। ध्वन्यालोक 1,4 वृत्ति

   रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत न चाभिधीयते। काव्यप्रकाश 1,47 वृत्ति

   (ख) यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
   व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्वन्यालोक 1,13

   (ग) इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनि र्बुधैः कथितः।। काव्यप्रकाश 1,4

तिरस्कृत करने वाले (अपने वाच्यार्थ को गौण बनाने वाले) एवं व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ शब्दार्थों की समष्टि को ध्वनि बताते हैं।[1] ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ध्वनिलक्षण देकर निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्—इत्यादि उदाहरण द्वारा जो स्पष्टीकरण किया है उससे सिद्ध हो जाता है कि ये रसध्वनि को ही उत्तम काव्य की श्रेणी में रखते हैं और यहाँ शृङ्गाररसध्वनि ही बताई गई है।[2]

धनञ्जय ने दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में रस का निरूपण तो किया है किन्तु उसका सम्बन्ध अभिधा और तात्पर्यवृत्ति के साथ जोड़ा है। यद्यपि आनन्दवर्धनाचार्य ने मम्मट से पहले ही रस और ध्वनि का आपस में सम्बन्ध बतला दिया है किन्तु रसध्वनि की स्थापना के लिए वैसी अकाट्य एवं हृदयग्राहिणी युक्तियाँ वे नहीं प्रस्तुत कर पाये हैं जैसी आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में दी हैं। इन्होंने लगभग तीन दर्जन युक्तियाँ देकर इस बात की स्थापना की है—रसादिरूप अर्थ तो स्वप्न में भी वाच्य अर्थात् अभिधागम्य नहीं है। सङ्ख्या, काल और आश्रय आदि के भेद से वाच्य और व्यङ्ग्य में सर्वथा भेद है।[3] आचार्य मम्मट के इस सत्प्रयास से काव्य की आत्मा के विषय में पहले फैले हुए सारे सन्देह दूर हो गये और ध्वनिसम्प्रदाय ने बड़े सशक्त रूप में काव्यशास्त्र के अन्दर खोया हुआ प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार जिस ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना आचार्य आनन्दवर्धन ने की

---

1. (क) ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।
तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः
शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।
ध्वन्यालोक 1,13 वृत्तिभाग
(ख) बुधै वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।
काव्यप्रकाश 1,4 वृत्तिभाग
2. इदमुत्तम ... निःशेषच्युत० अत्र ... व्यज्यते। काव्यप्रकाश 1,2 तथा वृत्ति
3. (क) रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। काव्यप्रकाश 5,47 वृत्तिभाग
(ख) प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपादितविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च गतोऽस्तमर्क ... इत्यादि । वही वृत्तिभाग

उसकी पुनः प्रतिष्ठापना आचार्य मम्मट द्वारा की गई। इनसे पहले रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदाय रूपी वृक्षों ने अपनी अपनी जड़ें मज़बूत की हुई थीं। आचार्य मम्मट ने बड़ी दृढता और धैर्य से उन्हीं के मध्य चमत्कारमूलक ध्वनि रूपी वट को आरोपित और संवर्धित किया तथा विरोधियों की आपत्तिरूपी आँधी से उसकी रक्षा की। ध्वनि के सभी प्रकार के सङ्कटमोचन करने के कारण इन्हें ध्वस्तध्वनिसङ्कटपरमाचार्य कहा जाता है। इसी प्रकार ध्वनि की प्रतिष्ठापना करने के कारण इन्हें ध्वनिप्रतिष्ठापनपरमाचार्य भी कहते हैं। इन्होंने ध्वनिप्रस्थान के साथ साथ रसप्रस्थान को समुचित महत्त्व देकर रसध्वनि को काव्य में सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया। काव्यप्रकाश के माध्यम से ध्वनिसूर्य का प्रकाश बिखेरा और रसब्रह्म के स्वरूप का सामाजिक को साक्षात् कराया। इनके प्रयास से मम्मटोत्तरयुग को एक स्थिर, सर्वाङ्गीण और निर्दुष्ट सिद्धान्त ध्वनिसिद्धान्त के रूप में मिला। भरतमुनि का रससिद्धान्त प्रथम सहस्राब्दी में तथा आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिष्ठापित चमत्कारगर्भित ध्वनिसिद्धान्त द्वितीय सहस्राब्दी सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता रहा है। वाराणसी के विश्वविख्यात मनीषी महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथ कविराज अकसर कहा करते थे–ध्वनिसिद्धान्त साहित्यशास्त्र के चिन्तन का चरमोत्कर्ष है। यह बहुत अधिक उत्कृष्ट एवं चमत्कारी काव्यतत्त्व है। और ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः भविष्य में भी इसका ऊँचा स्थान बना रहेगा। काव्यशास्त्ररूपी पर्वत का यह एक ऐसा सर्वोच्च शिखर है जिसकी तुलना में अन्य सिद्धान्तशिखर छोटे दिखाई देते हैं।

मम्मटोत्तरयुग के काव्यप्रकाश के टीकाकार एवं स्वतन्त्र ग्रन्थों के रचयिता काव्यशास्त्रज्ञ आचार्य ध्वनिसिद्धान्त का समर्थन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। यदि कहीं इसका समर्थन नहीं भी हुआ हो तो विरोध भी नहीं मिलता है। इससे यही सिद्ध होता है कि वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मम्मट के मार्ग के अनुयायी हैं। इन्होंने काव्यप्रकाश में काव्य के घटकतत्त्वों (रस, अलङ्कार, गुण आदि) में जिस ढंग से गौणप्रधानभाव अथवा अङ्गाङ्गिभाव की स्थापना की है उसी रूप में इनके समय से लेकर अब तक के भारतीय काव्यशास्त्र में इन विचारों को मान्यता प्राप्त है। मम्मट की इस महिमा के कारण इन्हें युगप्रवर्तक माना जा सकता है। सुधासागर नामक काव्यप्रकाश की टीका में भीमसेन ने आचार्य मम्मट को वाग्देवतावतार माना

है।[1] गोविन्दठक्कुर ने काव्यप्रदीपटीका में मम्मट की जो कहीं कहीं आलोचना की है उसका निराकरण करते हुए टीकाकार भीमसेन ने बताया है कि वाग्देवतावतार मम्मट की उक्ति का खण्डन तो स्वयं देवताओं के गुरु बृहस्पति भी नहीं कर सकते मनुष्य रूपी मच्छरों की तो बात ही क्या है[2]। इस प्रकार काव्यशास्त्रविषयक कुछ परिष्कृत सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना करने के कारण संस्कृतसाहित्य के आलोचना क्षेत्र में इन्होंने एक नये युग का प्रवर्तन किया है। हिन्दी के महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के समय से पहले छन्दःशास्त्र के नियमों का उल्लङ्घन कर वृत्तविहीन पद्यमयी कविता का निर्माण नहीं किया जाता था किन्तु क्रान्तिकारी निराला ने इस नियम की रूढियों को तोड़कर छन्दों के नियमों से निर्मुक्त स्वच्छन्द छन्द में कवितायें रचकर एक नवीन युग का आरम्भ किया। उनके अनुकरण पर आज भी बिना छन्द के कविता की जाती है। निराला की भाँति चमत्कारमूलकध्वनि के प्रतिष्ठापक आचार्य मम्मट भी अपने समय के युगनिर्माता थे। इन्होंने ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य में चमत्कार तत्त्वका समावेश किया है।[3]

2. सर्वाङ्गीणता

मम्मटाचार्य का ग्रन्थ काव्यप्रकाश सर्वाङ्गपूर्ण कृति है। इसमें काव्य के सभी उपयोगी तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। यह निरूपण अत्यन्त संक्षिप्त रूप से सूत्रशैली में हुआ है। परिणामतः इस ग्रन्थ में लगभग 1200 वर्षों में विचारित पूर्ववर्ती आचार्यों के परम्परागत सभी सिद्धान्तों का सार रूप में सङ्ग्रह हो सका है। मम्मट ने काव्यशास्त्र के सागर को काव्यप्रकाश रूपी गागर में भर दिया है। ये आचार्य बड़े बड़े काव्यसिद्धान्तों को थोड़े से थोड़े शब्दों में व्यक्त करने की विलक्षण

1. कस्तस्य स्तुतिमाचरेत्कविरहो को वा गुणान् वेदितुं
   शक्तःस्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः।
   श्रीमान् कैयट औवटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो
   भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिङ्गतः।।' ।।
   वामनाचार्य झलकीकरकृतकाव्यप्रकाशटीका प्रस्तावना पृ. 7
   (1843 शकाब्द चतुर्थ संस्करण भण्डारकर सिरीज़)
2. किञ्चायं मम्मटो भीमसेनेन सुधासागरे वाग्देवतावतारत्वेन वर्णितः। अपि च तत्रैव सुधासागरे काव्यप्रकाशस्य शैथिल्यमापादयन्तं गोविन्दठक्कुरकृतं काव्यप्रदीपं युक्तिप्रत्युक्तिभिः खण्डयित्वा स्वमतरीत्या काव्यप्रकाशस्य निष्कलङ्कत्वं संस्थाप्योक्तं भीमसेनेन-तस्माद् गोविन्दमहामहोपाध्यानामीर्ष्यामात्रमवशिष्यते। न हि गीर्वाणगुरवोऽपि श्रीवाग्देवतावतारोक्तिम् (मम्मटोक्तिम्) आक्षेप्तुं प्रभवन्ति किं पुनर्मानुषा मशकाः।। वही पृ. 8
3. काव्यप्रकाश 4,5

क्षमता रखते हैं। इन्होंने यदि यह शैली न अपनाई होती तो इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा कलेवर हो जाना था और इसमें सभी काव्याङ्गों का समावेश होना कठिन था। उदाहरणार्थ वैयाकरणों के मत में ध्वनि किसे कहते हैं और साहित्यिक किसे ध्वनि मानते हैं इस बात को इन्होंने तीन पङ्क्तियों में रख दिया है (काव्यप्रकाश 1.4 वृत्ति)। मम्मट के पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने काव्य के सभी अङ्गों के विषय में इनके समान सन्तुलित विचार प्रकट नहीं किये हैं। आचार्य भरत ने अपने विशाल ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में नाट्य की उत्पत्ति, प्रेक्षागृह आदि अनेक विषयों पर विस्तार से लिखा है किन्तु काव्यशास्त्रसम्बन्धी सामग्री दो तीन अध्यायों में ही दी है। रस का विवेचन तो उन्होंने विस्तृत रूप में किया है किन्तु उपमादि चार अलङ्कार ही बताये हैं। गुण और दोषों के विषय में उनके ग्रन्थ में कुछ नहीं मिलता। भामह और दण्डी ने अलङ्कारों पर तो खूब लिखा है किन्तु शब्दशक्तियों, रसध्वनि और काव्यों के भेदों का उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है। आचार्य वामन ने गुण, दोष और अलङ्कारों के साथ रीति का निरूपण तो किया है किन्तु काव्य के प्रधानतत्त्व रस की घोर उपेक्षा की है। काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह में उद्भट ने 41 अलङ्कारों की विवेचना की है और सब बातों को छोड़ दिया है मानो अलंकारों के सिवाय उनके पास और कुछ वर्णनीय विषय नहीं रहा है। 16 अध्यायों में विभक्त रुद्रट के काव्यालङ्कार नामक ग्रन्थ में काव्यलक्षण, दस रसों, भावों और नायकनायिकाभेदों को तो बताया गया है किन्तु उनके ग्रन्थ में शब्दशक्तियों के ऊपर विचार नहीं किया गया है। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में चारों उद्योतों में ध्वनिस्थापन, अभिधामूलध्वनि, लक्षणामूलध्वनि और पदपदांशवाक्यरचनागत ध्वनि को बताकर ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यध्वनि में और अधिक चमत्कार कैसे आ जाता है इस बात को विस्तारपूर्वक बताया है। इस कारण वह ध्वनि के सीमित घेरे को तोड़कर बाहर नहीं निकलते। अनेक स्थलों पर पुनरावृत्ति करके भी ध्वनिनिरूपण में ही सारी शक्ति लगाने के बाद भी अपने ग्रन्थ को शक्तिशाली नहीं बना पाये। ध्वनि के पक्ष में उन्होंने जो युक्तियाँ रखीं उन्हें परवर्ती महिमभट्ट ने बुरी तरह खण्डित कर दिया और यदि आचार्य मम्मट इस सिद्धान्त की युक्तिपूर्वक पुनः स्थापना नहीं करते तो ध्वनिसिद्धान्त को काव्यशास्त्र जगत् में मान्यता प्राप्त नहीं होती।

आचार्य अभिनवगुप्त ने बहुत सारे ग्रन्थों का निर्माण किया था किन्तु काव्यशास्त्र से सम्बद्ध कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उन्होंने नहीं लिखा। भरतनाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका और ध्वन्यालोक की लोचनटीका लिखकर उन्होंने नाट्यशास्त्र के गूढसिद्धान्तों तथा ध्वनि के स्वरूप को कुशलता के साथ स्पष्ट किया है किन्तु

उनकी इन दोनों टीकाओं में अलङ्कारदोष, अभिधा और लक्षणा शक्ति आदि काव्य के दूसरे अङ्गों पर प्रकाश नहीं डाला गया। राजशेखर के ग्रन्थ काव्यमीमांसा में 18 अध्याय हैं। उनकी विषयवस्तु पहले आचार्यों के बताये हुए विषयों से नितान्त भिन्न है। उन्होंने शास्त्रसङ्ग्रह, शास्त्रनिर्देश, काव्यपुरुषोत्पत्ति, पदवाक्यविवेक, अर्थव्याप्ति, कविचर्या, देशविभाग, कालविभाग आदि विषयों पर तो बहुत लिखा है किन्तु काव्यशास्त्र की रस, ध्वनि और अलङ्कार जैसी वस्तुओं के स्वरूप का विशदीकरण नहीं किया है। यह ग्रन्थ कवियों की जानकारी को बढ़ाने में तो बहुत सहायता करता है किन्तु इससे अलङ्कारशास्त्र के ज्ञान में पर्याप्त सहायता नहीं मिलती। मीमांसाशास्त्र के उद्‌भट विद्वान् मुकुलभट्ट की अभिधावृत्तिमातृका में केवल 15 कारिकायें हैं जिनमें लक्षणा और व्यञ्जनावृत्ति का खण्डन करके केवल अभिधा को वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। इस कारण इस कृति में अभिधा को छोड़कर और किसी तत्त्व को छूआ तक नहीं गया है। यह बात दूसरी है कि अभिधा के प्रसङ्ग से लक्षणा और व्यञ्जना का नाम ले लिया गया है। धनञ्जयकृत दशरूपक में भी भरतकृतनाट्यशास्त्र के समान नाट्य के विभिन्न तत्त्वों का सूक्ष्म दृष्टि से विस्तारपूर्वक वर्णन है। प्रथम प्रकाश में कथावस्तु के प्रकार, पाँच सन्धियाँ, पाँच अवस्थायें तथा पाँच अर्थप्रकृतियाँ बताई गई हैं। द्वितीय प्रकाश में नायकनायिकाभेद तथा कैशिकी आदि वृत्तियों के भेद हैं। तृतीय प्रकाश में रूपकों के लक्षण, प्रस्तावना, अङ्कसंविधान, कथाभाग में यथोचित परिवर्तन, नाटक के मुख्य रस, पात्रों की सङ्ख्या, प्रवेश और निर्गम के नियम आदि बताये गये हैं। चतुर्थप्रकाश में शृङ्गारादि रस, इनके स्थायिभाव और व्यभिचारिभाव, रसनिष्पत्ति, रस का व्यञ्जना के साथ सम्बन्ध न बताकर अभिधा के साथ रस के सम्बन्ध की युक्तिपूर्वक स्थापना, नाट्य में शान्तरस की अनुपयोगिता आदि विषय बड़ी सूक्ष्मता के साथ निरूपित किये गये हैं। किन्तु रसवादी होते हुए भी वे ध्वनि-विरोधी हैं। उन्होंने भरपूर शक्ति के साथ ध्वनि का खण्डन किया है और उसके साथ रस का सम्बन्ध न स्थापित करके उसे अभिधा के साथ जोड़ा है। अपने युक्तिबल से उन्होंने आनन्दवर्धन प्रतिपादित रस और ध्वनि के सामञ्जस्य के सिद्धान्त को बहुत कमजोर बना दिया था किन्तु आचार्य मम्मट के आने पर ध्वनि का सम्बन्ध रस के साथ पुनः स्थापित होता हुआ दिखाई देने लगा। अपने इस विस्तृत ग्रन्थ में धनञ्जय ने नाट्यों के दोषों और गुणों को नहीं बताया है और नाटकीय कविता में अलङ्कारों का भी कोई स्थान होता है यह भी बताने की आवश्यकता नहीं समझी है। दशरूपक पर धनञ्जय के छोटे भाई धनिक ने

अवलोकटीका लिखी है। यह टीका इस ग्रन्थ की ही व्याख्या है। इस कारण इसमें दशरूपक प्रतिपादित विषयों से अतिरिक्त और किसी काव्य के अङ्ग पर विचार करना सम्भव न था। केवल इसमें दशरूपक में बताये गये विषयों का भली भाँति सूक्ष्मविवेचन है। भट्टनायक का हृदयदर्पण मिलता ही नहीं है किन्तु वे भी अभिधावादी आचार्य हैं।

आचार्य कुन्तक द्वारा प्रणीत वक्रोक्तिजीवित में चार उन्मेष हैं। पहले उन्मेष में काव्यप्रयोजन, काव्यलक्षण तथा षड्विधवक्रता का उल्लेख है। दूसरे उन्मेष में वर्णविन्याःसवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता को समझाया गया है। तृतीय में वाक्यवक्रता को समझाकर उसके भीतर अलङ्कारों का अन्तर्भाव दिखाया गया है। चौथे उन्मेष में प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता को बतलाया है। इस प्रकार इस रचना में भी काव्य के रसादितत्त्वों को छोड़ दिया गया है। दशरूपककार की भाँति वे भी अभिधावादी आचार्य हैं। यद्यपि वे लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ को मानते हैं किन्तु उसका अन्तर्भाव वाच्यार्थ में कर लेते हैं। मुकुलभट्ट, धनञ्जय, भट्टनायक और कुन्तक की भाँति महिमभट्ट भी ध्वनिविरोधी आचार्य हैं और ध्वनि के स्थान पर अभिधावृत्ति और अनुमान की स्थापना करते हैं। उन्होंने व्यक्तिविवेक नाम की कृति में ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया है। व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में ध्वनि का खण्डन करते हुए ध्वनिकाव्य के उदाहरणों का अन्तर्भाव अनुमान के भीतर कर दिया गया है। द्वितीय विमर्श में काव्यदोषों का प्रतिपादन करते हुए अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष बताया है। अन्तरङ्ग अनौचित्य के अन्तर्गत रसदोष को माना है और बहिरङ्ग अनौचित्य में विधेयाविमर्श आदि पाँच दोषों को। तृतीय विमर्श में ध्वनि के 40 उदाहरणों को लेकर उनका अनुमान में अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार उन्होंने अपनी सारी शक्ति ध्वनि का खण्डन करने में लगाई है। काव्य के अलङ्कारादि दूसरे अङ्गों की ओर तो उन्होंने देखा तक नहीं है।

औचित्यसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र की औचित्यविचारचर्चा में 39 कारिकायें हैं जिनको समझाने के लिए उन्होंने श्लोकों में उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने बताया है कि अलंकार तभी काव्य की शोभा बढ़ाने में समर्थ होते हैं जब उनका विन्यास उचित स्थान पर हो, नहीं तो वे केवल नाम के अलङ्कार रह जाते हैं। इसी प्रकार औचित्य से युक्त गुण ही गुणता प्राप्त करते हैं, अन्यथा वे अगुण ही हैं। जो जिसके योग्य हो आचार्य लोग उसको उचित कहते हैं, उसका भाव औचित्य

है। इसकी स्थिति पदवाक्यादि 27 काव्याङ्गों में रहती है।[1] क्षेमेन्द्रप्रतिपादित इस औचित्य के सिद्धान्त पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि औचित्य दोषपरिहार-रूप है। वस्तुत: दोषपरिहार तो एक प्रक्रिया का नाम है जो रसादि का अङ्ग होकर काम करती है। जैसे किसी व्यक्ति के शरीर का रंग शरीर में रहकर ही शरीर के सौन्दर्य का कारण बनता है उसी प्रकार पदों और वाक्यों का औचित्य भी शब्दार्थ रूप शरीर का उपकार करता है। इसके अतिरिक्त औचित्यविचारचर्चा में काव्य के विभिन्न तत्त्वों के विषय में विचार नहीं किया गया है। सरस्वतीकण्ठाभरण नामक रचना के पाँच परिच्छेदों में भोजराज ने काव्य के घटकतत्त्वों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। प्रथम परिच्छेद में पदगत 16, वाक्यगत 16 तथा वाक्यार्थगत 16 दोष (कुल 48 दोष) माने हैं और शब्द तथा अर्थ दोनों के 24-24 गुण बताये हैं। अगले परिच्छेदों में शब्दालङ्कारों, अर्थालङ्कारों, रसों, भावों, पञ्चसन्धियों तथा चारों वृत्तियों का वर्णन है। किन्तु इस ग्रन्थ में ध्वनि के विषय में मम्मट जैसे परिष्कृत विचारों का अभाव है। दोषों का विवेचन भी मम्मट की अपेक्षा थोड़े विस्तार से है। भोजराज की दूसरी कृति शृङ्गारप्रकाश है इसमें 36 प्रकाश हैं। यह ग्रन्थ भी मम्मट के काव्यप्रकाश की भाँति सर्वाङ्गीण है। इसमें पहले आठ प्रकाशों में शब्दों तथा अर्थों के सम्बन्ध में वैयाकरणों के मत प्रदर्शित किये हैं। नवम और दशम में गुण और दोष बताये हैं। ग्यारहवें और 12वें प्रकाश में महाकाव्य तथा नाटक के विषय में बताया है। 13 से लेकर 36वें प्रकाश तक रसों के स्वरूप को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। विपुल विषयसामग्री की दृष्टि से भोजराज का शृङ्गारप्रकाश ही काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मम्मट के काव्यप्रकाश के साथ समता कर सकता है किन्तु ध्वनिसम्प्रदाय की प्रतिष्ठापना की दृष्टि से आचार्य मम्मट का योगदान अधिक है। इसके अतिरिक्त भोजराज की कृति में उस सूत्रशैली को समूचे ग्रन्थ में नहीं अपनाया गया है जिसे आचार्य मम्मट ने आदि से अन्त तक निबाहा है। नाटकीय कथावस्तु, रूपकों के

---

1. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृति:।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणा:।।
उचितं प्राहुराचार्या: सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।
पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे · · · प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।
औचित्यविचारचर्चा कारिका 6-10

भेद और नायकनायिकाभेद के सम्बन्ध में काव्यप्रकाश में विचार नहीं किया गया है। किन्तु वह एक तो नाट्यशास्त्र का विषय है दूसरे काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में रसनिष्पत्तिप्रक्रिया और रसों के भेदों, प्रभेदों और ध्वनिभेदों के निरूपण से यह कमी कुछ सीमा तक पूरी हो जाती है। इस प्रकार आचार्य मम्मट के ग्रन्थ में सङ्क्षेप से काव्य के लगभग सभी तत्त्वों का समावेश हो गया है। अपने से पूर्ववर्ती सिद्धान्तों में से उपयोगी सामग्री को लेकर इन्होंने उसे सफलतापूर्वक अपने ग्रन्थ में रखा है। विषयप्रतिपादन की दृष्टि से उन आचार्यों के मतों में जो न्यूनतायें या त्रुटियाँ रह गई थीं उन्हें दूर कर दिया गया है।

3. समन्वयात्मिका दृष्टि

आचार्य मम्मट की सर्वोपरि विशेषता इनकी समन्वयात्मिका दृष्टि है। आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि ने इनकी तुलना एक मधुमक्षिका के साथ करते हुए कहा है- किसी भी महती कृति के लिए श्रम और कला दोनों की आवश्यकता होती है। मधुमक्षिका विविध पुष्पों का मधुसञ्चय करके लाती है यह उसका श्रमपक्ष है पर उसको अपने छत्ते में किस प्रकार सजाकर संभालकर रखती है यह उसका कलापक्ष है। मधुमक्खी के छत्ते की रचना उसके मधु से कम आनन्ददायक नहीं है। मधु रसना को तृप्त करता है तो छत्ता दृष्टि को। दोनों का अपना सौन्दर्य है, दोनों की अपनी उपयोगिता है और दोनों की अपनी कला है। मधुमक्षिका का यह श्रम और कलात्मक प्रवृत्ति दोनों ही सराहना प्राप्त करती हैं। काव्यप्रकाश की मधुमक्षिका मम्मट की भी यही स्थिति है। उन्होंने एक सहस्र वर्ष के दीर्घ काल में फैले हुए विस्तीर्ण साहित्योद्यान के सैंकड़ों सुन्दर पुष्पों से मधुसञ्चय करने में जो श्रम किया है वह तो प्रशंसनीय है ही पर उसके साथ ही उसको जिस रूप में सजाकर काव्यप्रकाश में उपस्थित किया है, वह उनकी कलात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है। काव्यप्रकाश में दस उल्लास हैं। उसमें प्रतिपाद्य विषय या सञ्चित मधु को इस प्रकार सजाकर रखा गया है कि बस देखते ही बनता है।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य मम्मट में सङ्ग्राहक बुद्धि के साथ साथ सजाने संवारने की चातुरी भी दिखाई देती है। काव्यप्रकाश की बहुत कम सामग्री सर्वथा मौलिक कही जा सकती है। अधिकांश सामग्री पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों से सङ्गृहीत की गई है। चुन चुन कर चयन की गई

1. काव्यप्रकाश की आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिकृत हिन्दी व्याख्या, भूमिका पृ० 75 (वाराणसी, द्वितीय संस्करण 1960)

विषयवस्तु को पहले मम्मट ने स्वयं समझा है फिर इन्होंने उसे समन्वित रूप में अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। अग्निपुराण में जो अलङ्कार और रस आदि की सामग्री दिखाई देती है दण्डी के काव्यादर्श में उसी रूप में अथवा थोड़े परिवर्तन के साथ ले ली गई है। किन्तु मम्मट ने किसी भी आचार्य के मत को शब्दशः नहीं लिया है। पूर्वपक्ष के रूप में कहीं कहीं दूसरे आचार्य के मतों को उनके शब्दों में रखा है, वहाँ तो ऐसा करना आवश्यक होता है। किन्तु अन्य स्थलों पर इन्होंने दूसरे मतों और अपने मत को अपने ही शब्दों में रखा है। सभी उपयोगी ग्रन्थों का सङ्ग्रह और समन्वय होने से इस एक ग्रन्थ को पढ़ लेने से ही काव्यशास्त्रसम्बन्धी सारे विषयों एवं उनके सम्बन्ध में अनेक आचार्यों के अनेक मतों का ज्ञान हो जाता है। प्रथम उल्लास में ध्वनि के विषय में वैयाकरण एवं साहित्यिक मत हैं तो द्वितीय उल्लास में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद एवं सङ्केतग्रह के सम्बन्ध में साहित्यिक, मीमांसक, नैयायिक एवं बौद्धों के मत दिखाये गये हैं।[1] इसी उल्लास में 'गौरयम्' आदि गौणीसाध्यवसाना के उदाहरणों में लक्षणावृत्ति से बोध्य लक्ष्य अर्थ क्या है? इस विषय में विभिन्न आचार्यों के तीन मत दिखाये हैं।[2] विशिष्ट में लक्षणा मानने वाले मीमांसकों का खण्डन करते हुए मीमांसकों के ज्ञातता और नैयायिकों के अनुव्यवसायसिद्धान्त को उपस्थित किया है[3] चतुर्थ उल्लास में रसनिष्पत्तिप्रक्रिया के सन्दर्भ में भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्तपाद इन चारों आचार्यों के मतों को दिखाया है।[4] ध्वनि की स्थापना करने के लिए आचार्य मम्मट को पाँचवें उल्लास में बहुत श्रम करना पड़ा है और वहाँ बहुत सारे आचार्यों के मत देखने को मिलते हैं।

मम्मट का अपना एक विशाल एवं सहिष्णु दृष्टिकोण है। ये किसी भी आचार्य को सर्वथा गलत नहीं मानते हैं और किसी के मत का खण्डन करते हुए ये संयतभाषा का प्रयोग करते हैं। तददोषौ० इत्यादि काव्यलक्षण में इन्होंने काव्य के सभी आवश्यक तत्त्वों को अपने लक्षण में स्थान दिया है। कविता में अलङ्कार,

1. काव्यप्रकाश 1.4 वृत्तिभाग; 2.6 तथा वृत्तिभाग; 2.8 तथा वृत्तिभाग
2. वही 2,12 वृत्तिभाग
3. वही 2,18
4. वही 5,27-28 वृत्तिभाग

दोषराहित्य, रस और गुणों का होना अपेक्षित है और रस आत्मस्थानीय है। उसकी तुलना में अलङ्कार या रीति या रस को ही काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य अतिवादी हैं और पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं। वस्तुत: अलङ्कार को काव्य की आत्मा बताने वालों को सङ्कुचित न समझकर उनके अलङ्कार शब्द को व्यापक अर्थ में लिया जाना चाहिए। 'चमत्कृतिजनकत्वमलङ्कारत्वम्' से यही अभिप्राय निकलता है कि जो भी चमत्कार को उत्पन्न करे वह अलङ्कार है। कहीं यह कार्य उपमादि अलङ्कार करते हैं तो कहीं रसध्वनि, गुण और रीतियाँ करती हैं। मम्मट ने इन तत्त्वों को गौणप्रधानभाव प्रदान करके सभी पूर्वप्रचलित सम्प्रदायों का अपने मत में अन्तर्भाव किया है। काव्यलक्षण के अदोषौ विशेषण में औचित्यसम्प्रदाय का अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि औचित्य के अन्दर दोषराहित्य की भावना प्रमुख रूप से निहित है। सगुणौ के भीतर रीतिसम्प्रदाय आ जाता है क्योंकि गुण और रीतियों में अभेदसम्बन्ध है। यहाँ गुण के साथ ही रस का भी आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध है, इस कारण रससम्प्रदाय का भी ग्रहण हो जाता है। लाघव के कारण यहाँ सूत्रशैली से गुणरूप धर्म का उपादान कर दिया गया है। धर्मी रस का ग्रहण धर्म से स्वत: हो जाता है। अनलङ्कृती पुन: क्वापि से अलङ्कारसम्प्रदाय का समावेश किया गया है। षष्ठोल्लास में भामह के 3 श्लोक मम्मट ने उद्धृत किये हैं, जिनमें भामह ने कहा है कि कुछ लोग रूपक आदि अर्थालङ्कारों को ही प्रधान मानते हैं और शब्दालङ्कारों को अलङ्कार नहीं मानते हैं। क्योंकि रूपकादि अर्थालङ्कारों की प्रतीति अर्थप्रतीति के बाद होती है इसलिए दूसरे लोग उनको गौण अलङ्कार कहते हैं और शब्दालङ्कारों की प्रतीति काव्य के सुनते ही हो जाती है। इसलिए उन्हीं को प्रधान अलङ्कार मानते हैं किन्तु हमें तो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार–ये दोनों ही भेद पसन्द हैं।[1] ठीक यही दृष्टिकोण आचार्य मम्मट का है। ये काव्यप्रकाश को समाप्त करते हुए अन्तिम श्लोक में अपनी इसी समन्वयात्मिका प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं। इस भाँति भामह, वामन, उद्भट, आनन्दवर्धन आदि प्राचीन विद्वानों का रससम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, अलङ्कार-सम्प्रदाय आदि रूप से भिन्न भिन्न प्रभासित होने वाला यह काव्यनिरूपणमार्ग भी जो इस ग्रन्थ में समन्वित रूप में निरूपित होकर अभिन्न सा लग रहा है यह कोई विचित्र बात नहीं है क्योंकि भले ढंग से समन्वय करने की भावना से की

1. रूपकादिर० . . . . शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु न:॥
काव्यप्रकाश 6,48 वृत्तिभाग

हुई रचना ही इसका कारण है।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मम्मट को भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में मतभेद दिखाई पड़ता था। भरतमुनि ने रससिद्धान्त की स्थापना की थी। अलङ्कार को काव्य की आत्मा मानने वाले भामह और दण्डी थे और रीतिरात्मा काव्यस्य- इस मत को वामन मानते थे। कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते थे तो आनन्दवर्धन ने काव्यस्यात्मा ध्वनिः के सिद्धान्त को स्थापित किया था। किन्तु आचार्य मम्मट ने इन सभी का समन्वय अपने काव्यलक्षण में कर दिया है। अधिकांश आचार्यों ने या तो दूसरे आचार्यों के मतों को अपनी रचना में स्थान ही नहीं दिया है यदि दिया भी है तो उनकी अन्तर्निहित भावना को न समझते हुए मखौल में उड़ा दिया है। साहित्यदर्पण में मम्मट के उत्तरवर्ती विश्वनाथ ने मम्मट के काव्यलक्षण के उस अर्थ को लेकर खण्डन किया है जिसे मम्मट ने बताया ही नहीं है। काव्यलक्षण के अदोषौ पद का विश्वनाथ ने अभाव और अल्प अर्थ लेकर खण्डन किया है जबकि आचार्य मम्मट के मत में अदोषौ के नञ् उपसर्ग का अप्राशस्त्य अर्थ है। मम्मटाचार्य पूरी ईमानदारी के साथ दूसरे के मत को पहले समझने का प्रयत्न करते हैं। उसके बाद यदि उसका खण्डन भी करना पड़ता है तो संयम और शालीनता बरतते हैं। विश्वनाथ और पण्डितराजजगन्नाथ की तरह दूसरों को पूरी तरह मूर्ख सिद्ध करके ज़लील करना उनका उद्देश्य नहीं रहता और न ही उनकी तरह खण्डनोपरान्त उन्हीं आचार्यों की सामग्री को लेकर उसे इन्होंने अन्यत्र अपने ग्रन्थ में थोड़े से परिवर्तन के साथ रखा है।

4. कुशल सम्पादन

युगान्तरकारी आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में नवीन शैली से पुरातन सिद्धान्तों का कुशलतापूर्वक प्रतिपादन किया है। काव्यप्रकाश में 10 उल्लास हैं ये सभी उल्लास मम्मट द्वारा बताये हुए-- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि-[2] इसी काव्यलक्षण के ऊपर आधारित हैं। प्रथम उल्लास में मङ्गलाचरण के बाद काव्य के प्रयोजन, काव्य के कारण, काव्यलक्षण और काव्यभेद बता दिये हैं। इसके अनन्तर द्वितीय उल्लास में उपर्युक्त लक्षण में आये हुए शब्दार्थौ अर्थात् शब्द और अर्थ को स्पष्ट करने के लिए वाचक, लक्षक और

1. इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद् विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः।।
काव्यप्रकाश 10, 142 वृत्तिभाग

2. वही 1,4

व्यञ्जक ये तीन प्रकार के शब्द एवं वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य ये तीन प्रकार के अर्थ बताये हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना ये तीन शब्दशक्तियाँ कही हैं और इन पर आधारित व्यञ्जना का निरूपण है। तृतीय उल्लास में आर्थी व्यञ्जना के उदाहरण दिये हुए हैं। चतुर्थ उल्लास के भीतर काव्य में उत्तमकाव्य के 10455 भेद बताये हैं और पञ्चम उल्लास में आठ प्रकार के गुणीभूतव्यङ्ग्यध्वनि भेदों को उदाहरण सहित समझाया गया है। इसी अध्याय में व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना के लिए बहुत सारी युक्तियाँ उपस्थित की गई हैं। षष्ठ उल्लास में अधमकाव्य के भेद बतलाने के लिए चित्रकाव्यों का निरूपण किया गया है। इस अध्याय तक काव्यलक्षण के शब्दार्थौ पद की ही व्याख्या है। 7वें उल्लास में अदोषौ पद की विवेचना करने के लिए 70 दोष (16 पददोष 21 वाक्यदोष 23 अर्थदोष और 10 रसदोष) सोदाहरण दिखाये गये हैं। कहीं कहीं ये दोष दोष नहीं कहलाते इस बात का भी प्रतिपादन है। सगुणौ इस विशेषण की व्याख्या में आठवें उल्लास में गुणलक्षण, गुणों और अलङ्कारों में अभेद मानने वालों के मत का खण्डन, अलङ्कार का लक्षण तथा माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों के अन्दर वामन के 10 गुणों को अन्तर्भूत किया गया है। अनलङ्कृती पुनः क्वापि इन पदों की व्याख्या में नवम तथा दशम उल्लासों में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार बताये हैं। नवम उल्लास में गौडी आदि रीतियों के साथ वक्रोक्ति आदि 6 शब्दालङ्कारों के सोदाहरण लक्षण दिये गये हैं। 10वें उल्लास में उपमादि 61अर्थालङ्कारों का स्वरूप स्पष्ट कियां गया है। अन्त में वामनोक्त अलङ्कारदोषों का खण्डन करते हुए इस ग्रन्थ को समाप्त किया गया है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने बड़े सुनियोजितरूप में सभी विषयों को परस्पर सम्बद्ध बनाकर रखा है। इनकी ओर से इस बात का पूरा प्रयास किया गया है कि अपेक्षित सामग्री छूटे नहीं और अनपेक्षित और असम्बद्ध सामग्री बीच में न आने पाये। यह सन्तुलित स्वरूप मम्मट की योजनाबुद्धि का परिणाम है।

5. संस्कृतकाव्यशास्त्र में स्थान

काव्यप्रकाश में काव्य के सभी अङ्गों को समुचित महत्त्व दिया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ में ध्वनिविरोधी सभी सिद्धान्तों का खण्डन है और इन्होंने अपने ग्रन्थ में रसध्वनि को ही सर्वोपरि स्थान दिया है परन्तु गुण और अलङ्कारों को भी काव्य में महत्त्व दिया है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्त अतिवाद को लिये हुए हैं। भरत मुनि का कहना है कि काव्य में रस का स्थान सर्वोपरि है

क्योंकि नाट्य में रस के बिना कोई बात आगे बढ़ती ही नहीं है।[1] दण्डी अलङ्कारों को काव्य की शोभा बढ़ाने वाले मानते हैं[2]। वामन के अनुसार काव्य की आत्मा रीति है[3] तो कुन्तक के अनुसार काव्य को वक्रव्यापार वाला होना चाहिए।[4] किन्तु आचार्य मम्मट ने तददोषौ इत्यादि काव्यलक्षण उपस्थित करते हुए बताया है कि काव्य में रस, गुण, अलङ्कार, शब्द और अर्थ इन सभी तत्त्वों की आवश्यकता होती है। किन्तु इनमें स्थानभेद है। रसध्वनि का स्थान सर्वोपरि है रसों का गुणों के साथ अनिवार्य सम्बन्ध होने के कारण काव्य में उनकी भी पूरी आवश्यकता होती है। अलङ्कार भी काव्य में थोड़ी बहुत मात्रा में होने चाहिएँ। इन्होंने ध्वनिकाव्य को उत्तम, गुणीभूतव्यङ्ग्य को मध्यम तथा चित्रकाव्य को अधम काव्य माना है।[5] इन्होंने ध्वनि को अङ्गी और गुणों को उत्कर्ष बढ़ाने वाला तत्त्व माना है।[6] इस प्रकार जो काव्यतत्त्व जिस स्थान के अनुरूप है वही स्थान उसे इस ग्रन्थ में दे दिया गया है। त्रिविधध्वनि में भी रसध्वनि को सबसे ऊँचा होने का गौरव प्राप्त है।

मम्मट का काव्यप्रकाश जहाँ अनेक विशेषताओं से भरपूर है वहाँ इसमें कई दोष भी आ गये हैं। सूत्रशैली को ही इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक अपनाया गया है। इस कारण इसमें क्लिष्टत्व दोष आ गया है। काव्यप्रकाश की इस क्लिष्टता और दुरूहता के कारण इसके टीकाकारों की कठिनाई बढ़ जाती है क्योंकि इन्हें एक स्थल को स्पष्ट करने के लिए दूसरे कई ग्रन्थों में कई स्थानों पर देखना पड़ता है। बिना किसी प्रकार का सङ्केत दिये हुए अधिकांश स्थलों पर जिस सामग्री को रखा है वह अत्यन्त सङ्क्षिप्त होने के कारण टीकाकारों तथा पाठकों दोनों के लिए अस्पष्ट और दुरूह हो गई है। इसी कारण एक ही बात की किसी टीकाकार ने किसी एक ढंग से व्याख्या की है तो दूसरे ने और तरह से व्याख्या की है। योग्यतम टीकाकार के लिए भी सभी स्थानों पर सभी बातों को स्पष्ट करना कठिन हो गया है। रसनिष्पत्ति जैसे विषयों को और भी स्पष्टता और विस्तार के साथ लिखा जा सकता था। इसकी क्लिष्टता को देखकर महेश्वर भट्टाचार्य ने

---

1. नाट्यशास्त्र 6,32 वृत्तिभाग
2. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श 1,1
3. रीतिरात्मा काव्यस्य। काव्यालङ्कारसूत्र 1,1
4. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि। बन्धे .... वक्रो. 1,1
5. काव्यप्रकाश 1,4-5
6. वही 8,66-67

कहा है-यद्यपि काव्यप्रकाश की टीकायें घर घर दिखाई देती हैं तथापि यह वैसे का वैसा ही दुरूह है।[1] कहीं कारिका भाग में स्पष्टता है तो वृत्तिभाग कठिन हो गया है। कहीं वृत्तिभाग में स्पष्टता है तो कारिकायें अस्पष्ट हो गई हैं। सच्ची बात तो यह है कि बिना किसी टीका की सहायता के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को समझा ही नहीं जा सकता है। चतुर्थ उल्लास में व्यञ्जना को स्पष्ट करने के लिए जो उदाहरण दिये हैं वह सब शृङ्गाररस के हैं (इन्हें शृङ्गाररस नाम न देकर शृङ्गार-रसाभास कहना अधिक उपयुक्त होगा) जिससे यह भ्रान्ति होने लगती है कि मानो शृङ्गाररसातिरिक्त और किसी रस में व्यञ्जकता होती ही नहीं है। साथ ही जो उदाहरण दिये हैं उनमें कहीं कहीं औचित्य का अतिक्रमण हो जाता है। इस कारण अश्लीलत्व दोष आ जाता है। कई उदाहरणों में देवताविषयिकारति आने से यह अश्लीलत्व अनौचित्य की चरमसीमा तक पहुँच गया है।[2] काव्यप्रकाश में सबसे अधिक कमी इस बात की खटकती है कि इसमें रूपकों के भेद और नायकनायिकाभेद नहीं हैं और न ही नाट्यों के सन्धि, प्रस्तावना, अङ्क आदि विविध अङ्गों के विषय में विचार हैं क्योंकि रस की सृष्टि का आधार तो रूपक ही है। धर्मी के ज्ञान के बिना धर्मों का ज्ञान अधूरा रहता है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं मम्मट अपने विरोधियों के प्रति मानसिक सन्तुलन खो बैठे हैं[3] जो उनके गौरव के अनुरूप नहीं है। परन्तु इनके ये दोष उनकी उपरिलिखित विशेषताओं की तुलना में नगण्य हैं। जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलङ्क छिप जाता है और पूर्णचन्द्र सबके लिए आह्लादजनक होता है, वैसे ही आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाशरूपी चन्द्र के प्रकाश में ये दोष रूपी कलङ्क छिपे रहते हैं। इनके ग्रन्थ के प्रकाश में जहाँ विरोधियों के लिए सूर्य की किरणों जैसी प्रखरता है वहाँ साहित्यानुरागियों के लिए चन्द्रकिरणों की सी शीतलता है। यह एक

---

1. काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।।
काव्यप्रकाश टीका (वामनाचार्य झलकीकर) प्रस्तावना, पृ० 20 (1843 शकाब्द)

2. (क) रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति।।
काव्यप्रकाश 4,97

(ख) विपरीतरते लक्ष्मी र्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति।। वही 5,137

3. ये त्वभिदधति · · · · तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः।
वही 5,47 वृत्तिभाग

निर्विवाद तथ्य है कि जिस विद्वान् ने काव्यप्रकाश का गम्भीर अध्ययन कर लिया है वह भारतीय काव्यशास्त्र के किसी भी ग्रन्थ को समझने की क्षमता रखता है। इन सब कारणों से भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य मम्मट का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानास्पद स्थान है।

भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, क्षेमेन्द्र आदि सम्प्रदायविशेष के प्रवर्तक तथा मौलिक विचारों को प्रस्तुत करने वाले आचार्यों की पङ्क्ति में तो आचार्य मम्मट को स्थान नहीं दिया जा सकता क्योंकि आचार्य मम्मट ने अपना कोई नया सम्प्रदाय नहीं चलाया है। किन्तु इन आचार्यों की कतार से बाहर आचार्य मम्मट अपने समन्वयवादी तथा निर्भ्रान्त दृष्टिकोण को लिए हुए जहाँ खड़े हैं वहाँ कोई दूसरा आचार्य उनके साथ खड़ा होने की क्षमता नहीं रखता है। इस कारण काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य मम्मट की स्थिति दूसरे आचार्यों से पृथक् प्रकार की है। इन जैसा समन्वयवादी आचार्य और कोई नहीं है। इनके उत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इन्हीं जैसा सङ्ग्राहक और समन्वयवादी बनने का यत्न तो किया है किन्तु वे न तो वैसी प्रतिभा का परिचय दे सके हैं और न ही मम्मट की तरह सूत्रशैली से गम्भीर विषयों को प्रस्तुत कर पाये हैं। कहीं कहीं पर उन्होंने मम्मट के विचारों को बिना आत्मसात् किये थोड़े से हेर फेर से रख दिया है।[1] इस कारण समन्वयवादी आचार्यों में आचार्य मम्मट का स्थान सर्वोपरि है और भामह और दण्डी जैसे स्थूल विषयों के चिन्तकों से निस्सन्देह ऊपर है तथा वामन, रुद्रट, कुन्तक, आनन्दवर्धन, महिमभट्ट, भोजराज और जगन्नाथ जैसे सूक्ष्मदर्शी आचार्यों के समकक्ष है। किन्तु यदि सभी गुणों की दृष्टि से देखा जाये तो आचार्य मम्मट कहीं कहीं किसी किसी बात में प्रत्येक आचार्य से बाजी मार लेते हैं। काव्यों में सर्वाङ्गसुन्दर होने से जो स्थान बाणरचित कादम्बरी को प्राप्त है वही स्थान काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश को दिया जा सकता है। जैसे कादम्बरी में रस, अलङ्कार और कथावस्तु का सन्तुलित समन्वय देखने में आता है वैसे ही काव्यप्रकाश में

1. (क) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।।
काव्यप्रकाश 2,9

(ख) मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद् वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता।।
साहित्यदर्पण 2,5

रस, अलङ्कार और अन्य काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की सन्तुलित चर्चा है। बाण की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को देखकर जैसे काव्यजगत् में बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम् यह उक्ति प्रसिद्ध है ठीक वैसे ही मम्मटस्य किलोच्छिष्टं यद् द्वादशशतोत्तरम् इस वचन की प्रसिद्धि हो सकती है (काव्यप्रकाश सम्पादक एन. एस. वेङ्कटनाथाचार्य फौरवर्ड जी. मरुलसिद्दैया पृ. 12, सन् 1974)

मम्मट के काव्यप्रकाश की आलोचना करते हुए हिन्दी आलोचनाक्षेत्र के आचार्य डॉ. श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन में कहा है-मम्मट के समान व्यवस्थित और व्यवहारोपयोगी व्याख्या करने वाला दूसरा नहीं हुआ। साथ ही विद्वानों के लिए उनके ग्रन्थ में बड़े बड़े दर्शनों का सारतत्त्व भी मिल जाता है। इसी से मम्मट का काव्यप्रकाश भारतीय आलोचना के ग्रन्थों में प्रामाणिक माना जाता है।[1] मम्मट के स्थान को निर्धारित करते हुए डॉ. सुशील कुमार दे कहते हैं -क्योंकि इसमें सर्वाङ्गीणता और सङ्क्षेप इन दोनों गुणों का समन्वय है इस कारण इसकी संस्कृतकाव्यशास्त्र एवं अलङ्कारशास्त्र के उच्च श्रेणी के उन ग्रन्थों में गणना है जिन्हें सारे भारतवर्ष में अत्यन्त प्रामाणिक एवं लोकप्रिय माना जाता रहा है। इसमें काव्यशास्त्रसम्बन्धी पूर्वप्रचलित विचारों का सूत्रशैली से समावेश किया गया है और उनकी विशद व्याख्या भी की गई है इस कारण इसने एक ओजस्वी पाठ्यपुस्तक का रूप धारण किया है और यह असङ्ख्य व्याख्यात्मक टीकाओं और पाठ्यग्रन्थों का आरम्भबिन्दु बन गया है। इन्हीं कारणों से संस्कृत-अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में काव्यप्रकाश को अद्वितीय स्थान प्राप्त है।[2] डॉ. पी. वी. काणे ने भी इसी से मिलते जुलते विचार प्रकट किये हैं- काव्यशास्त्र के क्षेत्र में शताब्दियों से प्रचलित मतों का इसमें सार आ गया है और यह स्वयं अनेक सिद्धान्तों के विकास का मूलस्रोत बना है। वेदान्त में शारीरिकभाष्य और व्याकरण में महाभाष्य की भाँति काव्यशास्त्र में काव्यप्रकाश भी भावी भाष्यों और व्याख्याओं का उद्गम बन गया है। इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण गुण यह भी है कि यह विवेचनापूर्ण और सर्वाङ्गीण होने के साथ साथ सङ्क्षिप्त भी है। इसमें कुल 142 कारिकायें (जिन्हें सूत्र कहा जाता है) हैं और इनमें काव्यशास्त्र के सभी

1. साहित्यालोचन डॉ. श्यामसुन्दरदास (मम्मट का सन्दर्भ)
2. As it combines the merit of fullness with that of conciseness it became one of the classic works of Sanskrit Poetics and Rhetoric which has always maintained a great authority and popularity throughout India. It sums up and explains in the succinct form of a brilliant text book all the

अङ्गों का विवेचन आ गया है।[1] डॉ. आर. सी. द्विवेदी ने कहा है- आचार्य मम्मट का काव्यप्रकाश संस्कृतकाव्यशास्त्र का उच्च श्रेणी का पाठ्यग्रन्थ है। अलङ्काशास्त्र के बहुत सारे विद्यार्थियों के लिए यह गीता और बाइबिल है। इसमें न तो कहीं किसी नये आलोचना सिद्धान्त की वकालत मिल सकती है और न ही कहीं ग्रन्थकार ने अपने विचारों को रखा है। इस सबके बावजूद भी पाठकों के मध्य इसका सर्वभौमस्थान है एवं इसे सर्वप्रियता प्राप्त है। आज के दिन तक भी लिखी जाने वाली इस ग्रन्थसम्बन्धी अनेक टीकायें भारतीय सौन्दर्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इसके स्थानवैशिष्ट्य को प्रमाणित कर रही हैं।[2] प्रसिद्ध आलोचक बलदेव उपाध्याय ने इसके सम्बन्ध में लिखा है-यह ग्रन्थ नितान्त प्रौढ़, सारगर्भित तथा पाण्डित्यपूर्ण है। ध्वनिमार्ग का इससे सुन्दर विवेचन अन्यत्र नहीं। इसके ऊपर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था। इसलिए विश्वनाथ जैसे मौलिक ग्रन्थों के रचयिता विद्वानों ने भी इस पर व्याख्या लिखना परम प्रतिष्ठा माना।[3] डॉ. राजकिशोरसिंह का कथन है-भारतीय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अनेक उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। इनमें काव्यप्रकाश का अपना विशिष्ट महत्त्व है। अलङ्कारशास्त्र का यह प्रकाशमान रत्न अपनी दिव्य आभा से सैकड़ों वर्षों से निरन्तर आलोकदान कर रहा है। इसके आलोक ने अनेक परवर्ती अलङ्कार-शस्त्रियों का मार्ग प्रशस्त किया है। शताब्दियों से चलने वाले काव्यसम्बन्धी अनेक विवादास्पद विषयों का निर्णयात्मक रूप इसी ग्रन्थ ने प्रस्तुत किया है। काव्य का लक्षण, काव्य के हेतु एवं प्रयोजन, शब्दशक्ति, व्यञ्जना की स्थापना,

---

previous speculations on the subject, becoming in its turn the starting point of endless exegetic works and text books. As such, it occupies a unique position in the history of Sanskrit Alankara literature. History of Sanskrit Poetics: S.K. De Vol. I (Calcutta, 1960). p. 154

1. संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास पी.वी.काणे (अनुवादक डॉ. इन्द्रचन्द्र शास्त्री) प्रथम संस्करण 1966 दिल्ली पृ. 332
2. The Kavya Prakasha of Mammata is a classic text of Sanskrit Poetics. It is the Gita and the Bible of many a student of Alankarashastra. It does hardly advocate any new principle of literary criticism, nor does it establish any academy of its own. And yet, it enjoys universal popularity amongst the readers. Innumerable commentaries written to this day testify to its outstanding place in the field of Indian Aesthetics and Poetics. The Poetic Light: Dr. R.C. Dvivedi. Vol. Preface V (Delhi 1966).
3. संस्कृतसाहित्य का इतिहास: बलदेव उपाध्याय पृ० 639 षष्ठ संस्करण।

रससिद्धान्त और रस की अलौकिकता, ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा, ध्वनि के आधार पर काव्य के भेदों की चर्चा, रसदोष, गुण एवं अलङ्कार आदि के सम्बन्ध में जो मान्यतायें आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में प्रतिपादित की हैं वे लगभग उसी रूप में आज भी मान्य हैं। यह लक्षणग्रन्थ परवर्ती अलङ्कारशास्त्रियों का उपजीव्य ग्रन्थ है। · · · · मम्मट का यह ग्रन्थ पूर्ववर्ती आचार्यों के मन्तव्यों का एक सङ्ग्राहक ग्रन्थ है किन्तु मम्मट में अपना विचारस्वातन्त्र्य एवं अपनी मौलिकता है। उनकी खण्डनमण्डनात्मक पद्धति को देखकर उनकी प्रौढ चिन्तनशक्ति, प्रतिभा एवं साहित्यमर्मज्ञता का पता चलता है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता अलङ्कारशास्त्र में चलने वाली अराजकता का समाधान है।[1] आचार्य विश्वेश्वर ने मम्मट के काव्यप्रकाश को एक महती रचना बताया है[2] और लोकमणि दाहाल ने काव्यप्रकाश को महनीय प्रकाशस्तम्भ तथा युगप्रवर्तक ग्रन्थ कहा है।[3]

3. मम्मटोत्तरयुग

आचार्य भरतमुनि से लेकर भोजराज तक लगभग 1200 वर्षों में काव्यशास्त्र के चिन्तन की एक सुदीर्घपरम्परा थी। इस परम्परा के सभी आचार्यों के काव्यसिद्धान्तों का सार आचार्य मम्मट ने अपनी कृति काव्यप्रकाश में सुव्यवस्थित रूप से समाहित किया था। भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, मुकुलभट्ट, धनञ्जय, भट्टनायक,

1. आचार्य मम्मट और काव्यप्रकाश: डा. राजकिशोरसिंह (आगरा 1971) प्राक्कथन पृ. 1
2. काव्यप्रकाश में अपने पूर्ववर्ती सारे अलङ्कारशास्त्रियों के गुणों, सारी उत्तम बातों का एक साथ सङ्ग्रह कर दिया गया है और उनमें जो त्रुटियाँ या न्यूनतायें थीं उनको दूर कर एक सर्वाङ्गपूर्ण साहित्यग्रन्थ उपस्थित करने का प्रयत्न मम्मट ने किया है। इसलिए काव्यप्रकाश इतना सारगर्भित, महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय ग्रन्थ बन गया है कि उस एक ही ग्रन्थ का अध्ययन कर लेने से साहित्यशास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है इसलिए काव्यप्रकाश वस्तुतः एक महती रचना है।
   काव्यप्रकाश आचार्य विश्वेश्वरकृत हिन्दी टीका की भूमिका पृ० 75 ज्ञानमण्डल वाराणसी सन् 1960
3. काव्यप्रकाशो हि समस्तकाव्यशास्त्रस्य तादृशो महनीयः प्रकाशस्तम्भो यस्य प्रकाशरश्मयो निखिलमेव काव्यशास्त्रमाप्यायन्ते। असौ हि लक्षणशास्त्रजगति युगप्रवर्तको ग्रन्थः। एतत्प्रणयनानन्तरं ये खलु काव्यशास्त्रस्य ग्रन्थाः प्रणीतास्तेष्वस्य प्रभावः स्पष्टं लक्ष्यते। ये हि खलु मूलग्रन्थमेव रचयितुं प्रभवन्ति स्म तेऽपि काव्यप्रकाशटीकाप्रणयने गौरवं मन्यन्ते स्मेत्यहोऽस्य महनीयता।
   काव्यप्रकाश प्रस्तावना पृ.1 लोकमणि दाहाल द्वारा सम्पादित सन् 1993

कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र और भोजराज आदि आचार्य मम्मट से पूर्ववर्ती हैं। काव्यप्रकाश के चण्डीदास, नरहरितीर्थ, भीमसेन आदि टीकाकार तथा रुय्यक, हेमचन्द्र, रामचन्द्र गुणचन्द्र, विद्यानाथ, कविराज विश्वनाथ, श्रीवत्सलाञ्छन-भट्टाचार्य, विश्वनाथदेव, पण्डितराजजगन्नाथ, सिद्धिचन्द्रगणि, विश्वेश्वर, छज्जूराम, रेवाप्रसाद द्विवेदी आदि आचार्य मम्मट से परवर्ती हैं। काव्यप्रकाश के बाद भी यह काव्यशास्त्रीय चिन्तनपरम्परा बीसवीं शताब्दी तक निरन्तर चलती आई है। इसमें एक ओर काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने मम्मटप्रतिपादित सिद्धान्तों को और अधिक परिष्कृत रूप में उपस्थित किया है तो दूसरी ओर उत्तरवर्ती आचार्यों ने मम्मट के सिद्धान्तों का खण्डन मण्डन करते हुए अपने सिद्धान्तों को भी प्रस्तुत किया है। आचार्य मम्मट के बाद के इस काल को मम्मटोत्तरयुग कहा जा सकता है। भरत से लेकर आचार्य मम्मट तक के आचार्यों को प्राचीन, विश्वनाथ से लेकर पण्डितराजजगन्नाथ तक के आचार्यों को नवीन तथा पण्डितराज के उत्तरवर्ती वर्तमान काल तक के आचार्यों को अतिनवीन की सञ्ज्ञा प्रदान की जाती है।

वस्तुतः सब कुछ पुराना ठीक नहीं होता और न ही सब नया प्रशंसनीय होता है। विद्वान् परीक्षा करके ही पुरानी या नई वस्तु को ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत मूर्ख लोग औरों के बहकावे में आकर भटक जाते हैं।[1] महाकवि कालिदास की इस उक्ति में इसी तथ्य को उजागर किया गया है। व्याकरण, धर्म, दर्शन, कविता, साहित्य, विज्ञान आदि क्षेत्रों में पुरानी विचारधाराओं के साथ साथ नई विचारधाराओं का समावेश होता जाता है। जैसे प्राचीन व्याकरण के साथ नव्यव्याकरण, प्राचीन न्याय के साथ नव्यन्याय का विकास हुआ वैसे ही साहित्यशास्त्र में मम्मट और उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्त प्राचीन और मम्मटोत्तरयुग के आचार्यों के सिद्धान्त नवीन सिद्धान्तों के रूप में विकसित हुए। मम्मटोत्तरयुग के इन टीकाकारों और आचार्यों ने अपनी कृतियों में प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। पुराने विचारों के साथ साथ नये विचारों का भी महत्त्व होता है। पुराने सिद्धान्तों के परिष्कार और परिवर्तन द्वारा नये सिद्धान्त घड़े जाते हैं। नयों का अपना महत्त्व होता है क्योंकि वे तत्तत्कालविशेष की परिस्थितियों में प्रासङ्गिक एवं उपयुक्त होते हैं। पुरानी चीज़ यदि युगानुरूप नहीं होती तो उसे छोड़ना पड़ता है या उसमें परिवर्तन करके उसे समयानुरूप बनाना पड़ता है। प्राचीनता और नवीनता में सदैव द्वन्द्व चलता रहा

1. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरं भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥ मालविकाग्निमित्र 1,2

है। किसी भी क्षेत्र में जब नवीन अवधारणायें पुरानी अवधारणाओं का स्थान लेने लगती हैं तो नवीनों को अपना स्थान बनाने के लिए और अपनी जड़ें जमाने के लिए प्राचीनों के सिद्धान्तों को दोषपूर्ण और पुराना बताना पड़ता है। उदाहरणार्थ आचार्य मम्मट के तददोषौ शब्दार्थौ. (का.प्र.1,4) इस काव्यलक्षण का खण्डन आचार्य विश्वनाथ ने वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (सा.द. 1, 3) कहकर किया है और पण्डितराजजगन्नाथ ने रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् यह लक्षण उपस्थित कर विश्वनाथ के लक्षण को निरस्त किया है। इसी परम्परा में नञ्जराजयशोभूषण के रचयिता ने कविसमयानुरोधेन निबद्धौ शब्दार्थौ काव्यम् (नञ्जराजयशोभूषण पृ. 14) कहकर अधिक व्यापक और समयानुकूल काव्यलक्षण प्रस्तुत किया है।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि भारतीय काव्यशास्त्र के कतिपय विद्वानों में यह धारणा व्याप्त है कि आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक और क्षेमेन्द्र जैसे विभिन्न रसादिकाव्यसम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों तथा भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त जैसे टीकाकारों के विचारों में तो मौलिकता मिलती है परन्तु मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों और टीकाकारों में मौलिक प्रतिभा के दर्शन नहीं होते।[1] प्रस्तुत अध्ययन में यह बताने का प्रयास किया गया है कि मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों और टीकाकारों ने भी मौलिक विचारों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने पूर्वाचार्यों के अस्पष्ट सिद्धान्तों की मौलिक ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ विश्वनाथ, विश्वनाथदेव, विश्वेश्वर कविचन्द्र, हरिप्रसाद, कविकर्णपूर, पण्डितराजजगन्नाथ आदि आचार्यों ने क्षेमेन्द्र के न हि चमत्कारविरहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम् इस कथन को चरितार्थ करते हुए छः काव्यसम्प्रदायों से भिन्न चमत्कारसम्प्रदाय का पुनः प्रवर्तन, समर्थन एवं प्रतिष्ठापन किया है। ये सभी आचार्य चमत्कारत्ववत्त्वमेव काव्यत्वम् इस काव्यलक्षण को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार मम्मट के क्वचित् स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः इस अस्पष्ट वचन की हृदयग्राहिणी और स्पष्ट व्याख्या विश्वनाथदेव के साहित्यसुधासिन्धु में मिलती है जिसमें मौलिकता है। उन्होंने बताया है—वक्रोक्ति जैसे अलङ्कार अस्फुटालङ्कार (सामान्य अलङ्कार) और उपमादि स्फुटालङ्कार (विशेष अलङ्कार) हैं। चमत्कारिणी उक्ति का नाम

1. There has persevered a stupefying state of intellectual stagnation in aesthetics over the last nine hundred years. The Aesthetics of wonder p. v.

वक्रोक्ति है और वह सभी अलङ्कारों में मिलती है।[1] इससे यही सिद्ध होता है कि मम्मटोत्तरयुग में मौलिकता का अभाव नहीं है। टीकाकारों द्वारा कहीं कहीं नव्यन्याय की शैली को अपनाकर पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्त और अधिक मौलिक ढंग से स्पष्ट किये गये हैं। काव्यप्रकाश (4,28 वृत्ति) में भट्टनायक की रसप्रक्रिया में वर्णित भावकत्व व्यापार इसका उदाहरण है। भावकत्वं साधारणीकरणं सीतादिविशिष्टव्यक्तीनां विशेषांशमपहाय तासां कामिनीसामान्यत्वेनोपस्थापनम् इस रूप में यह विशद व्याख्या गोविन्दठक्कुर द्वारा काव्यप्रदीप में दी गई है। यही मौलिकता साहित्य- सुधासिन्धुकार ने दिखाई है।[2]

कोई भी लेखक पूर्ण रूप से मौलिक नहीं हो सकता। क्योंकि सभी लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखकों से कुछ न कुछ तो ग्रहण करते ही हैं। गृहीत अंश में कुछ परिष्कार करके उसे नया सा रूप दे देते हैं। अपनी स्वयं की उद्‌भावना तो अत्यल्प होती है। एक ही विषय पर लिखने वालों की शब्दावली तथा व्याख्याशैली भिन्न प्रकार की होती है। पहले से चली हुई चिन्तनपरम्परा को आगे चला देना भी महत्त्व रखता है। मम्मटोत्तरयुग के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की कुछ विशेषतायें इस प्रकार हैं-

1. **सरल शैली**- अधिकांश ग्रन्थों में खण्डनमण्डन की दुरूह शैली का परित्याग करके विषय को सरल और बोधगम्य बनाने का प्रयास किया गया है। साहित्यदर्पण सरलशैली में लिखा गया है।
2. **क्लिष्टशैली**- काव्यप्रकाश की टीकायें क्लिष्ट एवं दुरूह शैली में लिखी गई हैं। साहित्यसुधासिन्धु एवं रसगङ्गाधर में नव्यन्याय की शैली अपनाई गई है। स्थान स्थान पर सामान्यलक्षण के बाद परिनिष्ठित लक्षण दिये हुए हैं। इस कारण इनमें क्लिष्टता एवं दुरूहता आ गई है।
3. **स्वनिर्मित लक्षण और उदाहरण**- अधिकांश आचार्यों ने स्वनिर्मित काव्यलक्षणों के उदाहरण भी स्वयं बनाये हैं। कई आचार्यों ने एक ही कारिका के पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्ध में लक्ष्य दिये हैं।
4. **यशोभूषणपरम्परा**- विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रीय और नरसिंह कवि ने नञ्जराजयशोभूषण जैसे ग्रन्थ लिखकर अपने आश्रयदाता का गुणगान करने के लिए ग्रन्थलेखन की परम्परा को आरम्भ किया।
5. **अलङ्कारशास्त्र और नाट्‌यशास्त्र का निरूपण**- मम्मट ने अपने

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति।
2. साधारण्यञ्चयत्किञ्चत् सम्बन्धविशेषसम्बन्धित्वेनाज्ञायमानत्वे सति ज्ञायमानत्वम्। साहित्यसुध ासिन्धु 3,27 वृत्ति

ग्रन्थ काव्यप्रकाश में नाट्यशास्त्र का विवेचन नहीं किया है किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इन दोनों को समाहित किया है।

6. **टीकालेखनप्रवृत्ति** - इस युग में काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण जैसे ग्रन्थों की अनेक टीकायें लिखी गईं और अभी तक लिखी जा रही हैं।
7. **अलङ्कारप्रधानविवेचन**- अनेक आचार्यों ने अलङ्कारों के विवेचन पर ही विशेष ध्यान दिया और अलङ्कारों की संख्या में भी वृद्धि हुई।
8. **भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र**-भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने दोनों प्रकार के काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।
9. **समयानुरूप परिवर्तन**- भरत से लेकर वर्तमान काल तक के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में युगानुरूप परिवर्तन तो होता रहा है किन्तु मूलसिद्धान्त भी बचे रहे हैं उनका बाह्य रूप भले ही कुछ बदला हो किन्तु आन्तरिक रूप बचा रहा है।

मम्मटोत्तरयुग में संस्कृतकाव्यशास्त्र में नूतन अवधारणाएँ नामक इस अध्ययन में आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित, प्रतिष्ठापित और आलोचित सिद्धान्तों से सम्बद्ध नूतन अवधारणाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। सम्भवतः कहीं कहीं इनमें नूतनता लेशमात्र भी देखने को न मिले किन्तु वहाँ पुराने सिद्धान्त को नई शैली से कहने का प्रयासमात्र तो देखा ही जा सकता है। इस प्रकार यहाँ नूतन अवधारणाओं के अन्तर्गत नये सिद्धान्तों और नई व्याख्याओं का भी समावेश हो जाता है।

आचार्य मम्मट से पहले काल के आचार्यों ने काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार रखे थे। आचार्य भरत ने अपने समय में जब रससिद्धान्त—न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते उपस्थित किया होगा तो उस समय के आलोचनासाहित्य में यह सिद्धान्त नवीन अवधारणा के रूप में स्थापित हुआ होगा। इसी प्रकार यही बात अलङ्कार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य के सम्बन्ध में कही जा सकती है। काव्यात्मविषयक ये सारे सम्प्रदाय आचार्य मम्मट से पहले स्थापित हो चुके थे। समय के प्रवाह के साथ साथ अपने अपने समय के ये नवीन सिद्धान्त बाद में जाकर पुराने पड़ते रहे। पुराने सिद्धान्तों के साथ नवीन सिद्धान्तों और नवीन सिद्धान्तों के साथ प्राचीन सिद्धान्तों को मान्यता मिलती रही। मम्मटोत्तरयुग में काव्यात्मविषयक विचारों पर कम ध्यान दिया गया। उनका केवल सामान्य रूप से पठन पाठन होता रहा परन्तु अधिक ध्यान काव्य के शरीर शब्द और अर्थ पर दिया गया। मम्मटोत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों से लेकर

आज तक के काव्यशास्त्रविशारदों में जहाँ एक ओर काव्यात्मतत्त्व की चर्चा की जाती रही है वहाँ दूसरी ओर शब्दकाव्यतावाद, शब्दार्थकाव्यतावाद, अखण्ड-वाक्यकाव्यतावाद, अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद जैसे विषयों पर विशेष अध्ययन पठन पाठन और अनुसन्धान सतत रूप से होता आ रहा है।

अब यहाँ मम्मटोत्तरयुग की कतिपय नवीन अवधारणाएँ प्रदर्शित की जा रही हैं–

1. काव्यलक्षण

आचार्य मम्मट ने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है–

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। काव्यप्रकाश 1.4 सूत्रशैली में लिखे जाने के कारण मम्मट का यह काव्यलक्षण व्याख्यापेक्ष रहा है।

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे सन्ति टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गम[1] :–इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार काव्यप्रकाश को टीकाओं के आधार पर भी पूरा समझना बहुत कठिन है। मम्मटोत्तरयुग में टीकाओं और स्वतन्त्र ग्रन्थों में काव्यलक्षण पर विचार होता रहा है। शब्दार्थौ और उसके अदोषौ, सगुणौ और अनलङ्कृती पुनः क्वापि इन तीनों विशेषणों को लेकर बहुत ऊहापोह किया गया है। यहाँ संक्षेप में इसको साररूप में बताया जा रहा है।

शब्दार्थौ काव्यम्

आचार्य मम्मट और उनके अनुयायियों ने शब्दार्थौ काव्यम् कहकर शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना है। मम्मट का यह मत शब्दार्थकाव्यतावाद के अन्तर्गत आता है। शब्दार्थौ पद का विग्रह शब्दश्च अर्थश्च इस रूप में है। यहाँ चार्थे द्वन्द्वः (अ० 2, 2, 29) से च के अर्थ में द्वन्द्व समास है। इस समास में शब्द और अर्थ इन दोनों का तुल्यप्राधान्य है। काव्य में भी इन दोनों घटकों का महत्त्व है। किन्तु मम्मटोत्तरवर्ती अधिकांश नवीन आचार्यों को यह मत रुचिकर नहीं लगा। वे काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता न मानकर शब्द की प्रधानता मानते हैं। अतः उनका मत शब्दकाव्यतावाद में अन्तर्निहित हो जाता है। चण्डीदास ने आस्वादजीवातुपदसन्दर्भ, विश्वनाथ ने रसात्मकवाक्य, विश्वनाथदेव ने ब्रह्मानन्दसहोदर परमानन्द को पैदा करने वाले वाक्य और पण्डितराजजगन्नाथ ने रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द को काव्य माना है। आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदसमूह वाक्य होता है। इस कारण वाक्य को काव्य मानने वाले आचार्य भी शब्दकाव्यतावाद को मानते हैं। इन्होंने शब्दार्थौ काव्यम् का खण्डन करते हुए और शब्दः काव्यम् की स्थापना करते हुए दोनों पक्षों की साधक बाधक युक्तियों को

---

1. वामनाचार्य झलकीकरकृत काव्यप्रकाशकी टीका पु. 20

अपनी कृतियों में समाविष्ट किया है। पण्डितराजजगन्नाथ ने रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्-इस काव्यलक्षण में अर्थ को शब्द का विशेषण बनाया है। अतः अर्थ को गौण और शब्द को प्रधान स्थान दिये जाने से वे शब्दकाव्यतावाद के पक्षधर हैं। उन्होंने आचार्य मम्मट को प्राचीन आचार्य बताकर उनके शब्दार्थकाव्यतावाद का खण्डन किया है। विश्वनाथदेव और सिद्धिचन्द्र गणि ने सुखविशेष के जनक काव्य के भीतर रहने वाली काव्यता के अवच्छेदक अखण्ड काव्यत्व की कल्पना की है।[1] अखण्ड शब्द के आधार पर निम्नलिखित अर्थ हो सकते हैं–

(क) अखण्डशब्दार्थ अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि काव्य है।

(ख) स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव- इन सबका सम्पृक्तभाव काव्य है।

(ग) ज्ञान, प्रकाश और आनन्द की समष्टि काव्य कहलाती है।

अदोषौ शब्दार्थौ काव्यम्

उत्तरवर्ती श्रीवत्सलाञ्छन, विश्वनाथ, विश्वनाथदेव आदि नूतन आचार्यों का मत है कि काव्यलक्षण में प्रयुक्त अदोषौ का अभिप्राय दोषसामान्याभाववन्तौ मानना चाहिए। काव्य सभी प्रकार के दोषों से रहित होना चाहिए। केशवमिश्र भी ऐसा ही मानते हैं।[2]

सगुणौ शब्दार्थौ काव्यम्

आचार्य विश्वनाथ ने सगुणौ विशेषण पर आपत्ति करते हुए कहा है कि गुणों को शब्दार्थ का धर्म नहीं बताना चाहिए। गुण तो रस में रहते हैं। सगुणौ के स्थान में रसवन्तौ शब्दार्थौ काव्यम् कहना चाहिए।

अनलङ्कृती पुनः क्वापि (शब्दार्थौ) काव्यम्

इस विशेषण को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने कहा है- क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यहाँ मम्मट का

1. (क) वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं तथा तदेव काव्यलक्षणमस्तु। सा. सि. सि.) 1,4 वृत्ति

(ख) नवीनास्तु काव्यत्वमखण्डोपाधिः चमत्कारजनकतावच्छेदकस्य काव्यपदप्रवृत्ति-निमित्तस्य चान्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् तदेव लक्षणमस्तु।

का. प्र. ख. 1, 4 वृत्ति

2. दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः।
अन्यो गुणोऽस्तु वा मास्तु महान् निर्दोषतागुणः।। अलङ्कारशेखर 2, 1, 1

अभिप्राय है कि सब जगह अलङ्कारों वाले और कहीं कहीं उपमादि स्फुट अलङ्कारों से रहित शब्द और अर्थ काव्य होते हैं। आठवें उल्लास में मम्मट ने कहा है-

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ काव्यप्र. 8.67

अनुप्रास और उपमादि अलङ्कार काव्य की बाह्य शोभा को बढ़ाने वाले धर्म हैं। उनका होना काव्य में गुण की तरह आवश्यक एवं अनिवार्य नहीं है। उनका यह कथन अपने पहले कथन सर्वत्र सालङ्कारौ के विरोध में जाता है और इस कारण यहाँ वदतोव्याघात है। इसका समाधान बाद के आचार्यों ने बड़ी उत्तमता से किया है। विश्वनाथदेव ने दो प्रकार के अलङ्कार माने हैं। एक उपमादि विशेषालङ्कार और दूसरे वक्रोक्ति जैसे सामान्यालङ्कार। यह वक्रोक्ति अर्थात् अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार सर्वत्र चमत्कार भरी उक्तियों में रहता है। यः कौमारहरः इत्यादि उदाहरण में इसी वक्रोक्ति अलङ्कार के होने से काव्यत्व है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो ह्यनया विना॥

सा.सु.सि. 1,4 वृ.भा.

वक्रोक्ति चमत्कारिणी उक्ति को कहते हैं। वास्तव में यह वक्रोक्ति तथा उपमादि अलङ्कार काव्य के बाह्य तत्त्व नहीं हैं। ये भी गुणों की तरह काव्य के आवश्यक और अनिवार्य तत्त्व हैं। इससे अलङ्कारों की भी गुण की तरह काव्य में आवश्यकी स्थिति हो जाती है। इस नवीन दृष्टिकोण से देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य मम्मट को जितना रसवादी और ध्वनिवादी माना जाता है उतना ही उन्हें अलङ्कारवादी भी माना जाना चाहिए और वे काव्य में गुण की तरह अलङ्कार को भी अनिवार्य और अपरिहार्य तत्त्व मानते हैं। उत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथदेव ने शब्दकाव्यतावाद और शब्दार्थकाव्यतावाद के पक्ष और विपक्ष में अनेक युक्तियाँ दी हैं और अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद की स्थापना कर गुण, रस और अलङ्कार की उसमें स्थिति मानी है। आचार्य मम्मट ने आठवें उल्लास में अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य और अपरिहार्य धर्म नहीं माना है। विश्वनाथ ने भी मम्मटप्रोक्त इस अलङ्कारलक्षण को स्वीकार कर रस को ही महत्त्व दिया है। सम्भवतः इसी से प्रेरणा पाकर उत्तरवर्ती आचार्य गोविन्द ठक्कुर और सिद्धिचन्द्र गणि ने काव्य में रस और अलङ्कार की वैकल्पिक स्थिति मानकर नया सिद्धान्त स्थापित किया है। इन दोनों आचार्यों ने काव्य में रस और अलङ्कार इन दोनों में से किसी एक की वैकल्पिक स्थिति मानी है। इन दोनों ने काव्य में रस को अलङ्कार

का विकल्प तथा अलङ्कार को रस का विकल्प माना है। गोविन्द ठक्कुर का कहना है काव्य में स्फुटालङ्कार या रस में से किसी एक की सत्ता अनिवार्य है दोनों का रहना जरूरी नहीं है। इसलिए सालङ्कारौ विशेषण ठीक नहीं है। रसालङ्कारान्यतरवत्त्वं काव्यत्वम् कहना चाहिए।[1] गोविन्दठक्कुर का अनुकरण करते हुए काव्यप्रकाश-खण्डनकार सिद्धिचन्द्रगणि ने कहा है-

अदोषत्वे सति सगुणत्वे च सति स्फुटालङ्काररसान्यतरवत्त्वं काव्यत्वमिति फलितार्थः।[2] वागीश्वर विद्यालङ्कार ने रस के विकल्प के रूप में भाव और चमत्कार को रखा है और केवल चमत्कार के ही रहने से काव्य की सृष्टि मानी है।[3]

2. काव्यप्रयोजन

आचार्य मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजन बताये हैं- यशः प्राप्ति, अर्थप्राप्ति, व्यवहारिकज्ञानोपलब्धि, अनिष्टनिवारण, आनन्दानुभूति और कान्तासम्मित उपदेश प्रदान। उनके अनुसार परमानन्द की अनुभूति सकलप्रयोजनमौलिभूत अर्थात् सर्वोपरि काव्यप्रयोजन है। मम्मटोत्तरवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य से आनन्द की प्राप्ति होती है इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। विश्वनाथदेव-जायते परमानन्दो कहकर सुखविशेष का उत्पादक काव्य होता है ऐसा मानते हैं। किन्तु काव्यकौमुदीकार हरिदास का कहना है कि निवृत्तराग भगवान् वाल्मीकि ने रामायण महाकाव्य की रचना यश अथवा अर्थप्राप्ति के लिए नहीं की। अतः काव्यरचना में कवि का प्रयोजन कुछ भी नहीं होता। रेवाप्रसाद द्विवेदी भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार रामायण की रचना में आदि कवि वाल्मीकि का कोई प्रयोजन निहित नहीं था। इन आचार्यों के मतानुसार कविता निष्प्रयोजन और सप्रयोजन दोनों प्रकार के दृष्टिकोण को लेकर लिखी जाती है। स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा इस वचन को आदर्श मानकर तुलसीदास ने रामचरितमानस का निर्माण किया था।

3. काव्यहेतु

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों को काव्य का कारण माना है। कवित्व बीज रूप संस्कारविशेष का नाम शक्ति है। इसी के कारण कवि अपनी कविता का निर्माण करता है। मम्मटोत्तरवर्ती

---

1. काव्यप्रकाश 1,4 काव्यप्रदीपटीका
2. वही 1,4 काव्यप्रकाशखण्डनटीका
3. रसभावचमत्कारान्यतमप्राणपेशलः
   काव्यं शब्दार्थसन्दर्भोऽलौकिकानन्दसुन्दरः।। वैदिकसाहित्यसौदामिनी 2, 6 तथा वृत्ति।

श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य, पण्डितराजजगन्नाथ, सिद्धिचन्द्रगणि आदि आचार्यों ने केवल प्रतिभा को काव्य का कारण माना है। रेवाप्रसाद द्विवेदी का (काव्यालङ्कारकारिका में) कहना है कि जिस प्रकार मेघ के अन्दर विद्युत् चमकती है उसी प्रकार बुद्धि के अन्दर कभी कभी अदृष्टचर एवं अपूर्वकल्पित अर्थ का दर्शन होता है इसी अर्थप्रतिभासन को प्रतिभा कहते हैं। रवि भट्टाचार्य ने चमत्कार को भी प्रतिभादि की तरह काव्यहेतु माना है।

4. काव्यभेद

आचार्य मम्मट ने ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र नामक चमत्काराश्रित तीन काव्यभेद माने हैं। इनको उत्तम, मध्यम और अवर नाम दिया है। उत्तरवर्ती विश्वनाथदेव ने ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दो भेद माने हैं। उनका कहना है कि शब्दचित्र और अर्थचित्र का रसादि में ही तात्पर्य होता है और उनमें अलङ्कारत्व की प्रधानता होती है इसलिए गुणीभूतव्यङ्ग्य का मध्यमकाव्य में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

आचार्य विश्वनाथदेव मम्मटोक्त इन तीनों काव्यभेदों को स्वीकार करके उनके उदाहरण भी देते हैं। साथ ही इन तीनों भेदों के वर्गीकरण का आधार चमत्कार को बताते हैं। व्यङ्ग्यचमत्कार होने पर ध्वनि नामक उत्तम काव्य, व्यङ्ग्य में कम चमत्कार होने पर मध्यम काव्य और शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार में चमत्कार होने पर चित्र नामक अवरकाव्य ये तीन काव्यभेद हैं।

इन तीनों भेदों के लक्षण और उदाहरण प्रदर्शित करने के बाद आचार्य विश्वनाथदेव इन तीनों भेदों के वर्गीकरण को अनुचित मानते हैं और ध्वनि नामक एक ही काव्यभेद को स्थापित करते हैं। वस्तुतस्तु अनुचितोऽयं ध्वनित्वादिना विभागः (सा.सु.सि. 1,7 वृत्तिभाग) वास्तव में तो ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र नामक ये ध्वनिभेद अनुचित हैं क्या इन तीनों भेदों में रस आदि की प्रतीति होती है? यदि नहीं प्रतीति होती तो काव्यत्वाभाव मानना पड़ेगा यदि रस प्रतीत होता है यह माना जाये तो रस तो तीनों भेदों में एक जैसा होता है उसका उत्तम, मध्यम और अवर भेद असम्भव है क्योंकि रस तो सपूर्ण अखण्ड आनन्दस्वरूप है। उसके न्यूनाधिक मात्रा के आधार पर भेद नहीं हो सकते। मध्यमकाव्य में भी व्यङ्ग्यार्थ की गौणता होने के कारण उसे मध्यम कहा जाता है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उसके भीतर व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता होने पर भी अन्तिम चमत्कार की दृष्टि से उस (व्यङ्ग्यार्थ) की अप्रधानता वहाँ बिल्कुल मामूली रूप में होती है।

गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य में भी अन्त में चमत्कार दृष्टिगत होता है उस समय इस बात की ओर ध्यान ही नहीं जाता कि वहाँ व्यङ्ग्यार्थ गौण है या प्रधान है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ चाहे गौण हो या प्रधान हो सबको एक ध्वनि नाम देना युक्तिसङ्गत है। इसी प्रकार के विचार काव्यप्रकाशखण्डन में सिद्धिचन्द्रगणि ने व्यक्त किये हैं।

5. व्यक्ति में सङ्केतग्रह

आचार्य मम्मट ने सङ्केत का ग्रहण जाति में माना है और व्यक्ति में मानना अस्वीकृत किया है। किन्तु विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु में व्यक्ति में भी सङ्केत माना है। आकाशादि पदों में आनन्त्य और व्यभिचार दोष से बचने के लिए व्यक्ति में सङ्केत माना जा सकता है।

6. चतुर्विधा लक्षणा

आचार्य मम्मट ने छः प्रकार की लक्षणा बताई है किन्तु विश्वनाथदेव छः प्रकार की लक्षणा न मानकर चार प्रकार की लक्षणा मानते हैं। शुद्धालक्षणा के आयुर्घृतम् और गङ्गायां घोषः -इन दोनों उदाहरणों का अन्तर्भाव गौणीलक्षणा में कर दिया है क्योंकि आयुर्घृतम् मे कार्यकारणभावसम्बन्ध के स्थान पर सादृश्यसम्बन्ध माना जा सकता है और गङ्गायां घोषः में भी समान गुणों का योग है। प्रत्येक प्रकार की लक्षणा में सदृशगुणों का योग ढूँढा जा सकता है। इस कारण सादृश्य और सादृश्येतर सम्बन्ध के आधार पर भेद करना ठीक नहीं है (षड्विधात्वमनुपपन्नं गौण्यामपि उपादानादिसम्भवात्)।

गौणीलक्षणा के ही उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा ये चार भेद हैं।

7. व्यञ्जना ही एकमात्र वृत्ति

श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने सारबोधिनी टीका और काव्यपरीक्षा में बताया है कि नवीनों का मत है कि उन उन अर्थों अर्थात् शब्दप्रतिपाद्य वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों का उत्पादक व्यापार ही व्यञ्जना कहलाता है। यही व्यापार सब जगह है। यह न अभिधा है और न लक्षणा है। यह व्यञ्जना जब सङ्केतग्रह के नियम से सङ्केतित अर्थ का बोध कराती है तो अभिधा है, जब मुख्यार्थबाध के अनन्तर दूसरे अर्थ को प्रतीत कराती है तो लक्षणा है और जब तीर में बाधित शैत्यपावनत्वादि रूप अर्थ की प्रतीति कराती है तो व्यञ्जना है। विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु में भी इस मत का उल्लेख किया है। काव्यपरीक्षाकार श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने इसी व्यञ्जना में अनुमान का अन्तर्भाव किया है।

8. रसनिष्पत्तिप्रक्रिया एवं रस

काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने रसनिष्पत्तिविषयक चार आचार्यों के मत ही प्रदर्शित किये हैं किन्तु पण्डितराजजगन्नाथ ने इस सम्बन्ध में ग्यारह मत बताए हैं। काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने भट्टनायक के सत्त्वोद्रेक के कारण प्रकाशानन्दसंवित् तथा अभिनवगुप्त के वासनारूप में स्थित स्थायिभाव की अभिव्यक्ति को रस बताया है। किन्तु उत्तरवर्ती श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य, विश्वनाथदेव, पण्डितराजजगन्नाथ और सिद्धिचन्द्रगणि ने भग्नावरणचिद्विशिष्ट-रत्यादिभाव को रस बताया है। अस्यां चाभिव्यक्तौ · · · चैतन्यं भग्नावरण-मानन्दरूपतया परिणतं रसः ।[1] इस प्रकार इन आचार्यों ने रसनिष्पत्ति की नवीन दृष्टि से व्याख्या की है। मम्मट ने 8 रस माने हैं किन्तु विश्वनाथदेव ने 12 रस तथा उनके 12 स्थायिभाव बताये हैं।

9. ध्वनिभेद

आचार्य मम्मट ने ध्वनि के 51 शुद्ध भेद माने हैं किन्तु विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु में केवल सात भेद माने हैं।

10. दोषों के परिनिष्ठितलक्षण एवं दूषकताबीज

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में श्रुतिकटु आदि दोषों के लक्षण या तो दिये ही नहीं है यदि दिए भी हैं तो वे अत्यन्त संक्षिप्त हैं, अतः बहुत स्पष्ट नहीं है। किन्तु उत्तरवर्ती श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य और विश्वनाथदेव ने इन दोषों का लक्षण, पदकृत्य, परिनिष्ठितलक्षण और दूषकताबीज भी बताया है। इन दोनों आचार्यों के दोषविश्लेषण आचार्य मम्मट के दोषविवेचन से निस्सन्देह अधिक उत्कृष्ट हैं।

11. तीन गुण

मम्मटप्रतिपादित 10 शब्दगुणों और 10 अर्थगुणों का तीन गुणों में अन्तर्भाव विश्वनाथदेव को स्वीकार्य नहीं है। आचार्य विश्वनाथदेव ने सभी छोटे बड़े गुणों के परिनिष्ठित लक्षण दिये हैं। इसकारण इन लक्षणों में साङ्कर्य, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता है।

12. परिनिष्ठित अलङ्कारलक्षण एवं सादृश्यमूलक अलङ्कारों में अन्य अलङ्कारों का अन्तर्भाव

मम्मट ने सादृश्यमूलक अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन किया है।

1. साहित्यसुधासिन्धु 3,27 वृत्ति

विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु में सादृश्यमूलक अनन्वय, उपमेयोपमा आदि अलङ्कारों का उपमा तथा विभावनादि का विरोधाभास आदि में अन्तर्भाव दिखाया है। उपमा और अनन्वय जैसे सादृश्यमूलक अलङ्कारों, दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास जैसे आंशिक सम्बन्ध रखने वाले अलङ्कारों के उदाहरणों में सूक्ष्म भेद बताया है।

13. **चमत्कारसम्प्रदाय**-आचार्य क्षेमेन्द्र ने न हि चमत्कारविरहितस्य कवे: कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्[1] तथा आचार्य मम्मट ने लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म काव्यम्[2] का उद्घोष करके चमत्कारसम्प्रदाय की प्रवर्तना एवं प्रतिष्ठापना कर दी थी। बाद में इसी चमत्कारसम्प्रदाय की पुन: स्थापना विश्वेश्वर कविचन्द्र ने चमत्कारचन्द्रिका में की है। श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य तथा विश्वनाथदेवादि आचार्यों ने भी इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में यत्र तत्र चर्चा की है। चमत्कारसम्प्रदाय मम्मटोत्तरयुग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नूतन अवधारणा है इसका विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

---

1. कविकण्ठाभरण 3,1
2. काव्यप्रकाश 1.2 वृत्ति

द्वितीय अध्याय

काव्यशरीरसम्बन्धी नूतन अवधारणाएँ काव्यशरीर एवं काव्यशरीरसम्बन्धी वाद

काव्यशरीर

काव्यशरीर का अर्थ है काव्यस्य शरीरम् काव्यशरीरम् अर्थात् काव्य के शरीर शब्द एवं अर्थ। आचार्य दण्डी के अनुसार अभिलषित सुन्दर अर्थ से विभूषित शब्दसमूह काव्य का शरीर है।[1] ध्वन्यभाववादियों के मत का उल्लेख करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है- काव्य शब्दार्थशरीर वाला है अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं।[2] राजशेखर का कथन है-ब्रह्मा के वर से सरस्वती ने अपने पुत्र काव्यपुरुष को उत्पन्न किया। काव्य के अङ्ग ही उसके अङ्ग थे[3]। आचार्य मम्मट ने रस को काव्य की आत्मा बताते हुए शौर्यादिगुणों को उसके उत्कर्ष का हेतु बताया है। ये शौर्यादिधर्म आत्मा के ही होते हैं आकार (शरीर) के नहीं।[4] मम्मटोत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के शरीरादि तत्त्वों का वर्णन इस प्रकार किया है-शब्द

---

1. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यादर्श 1,10
2. शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्। ध्वन्यालोक 1,1 वृत्ति
3. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहुः
   जघन्यमपभ्रंशः पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्।
   समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि।
   उक्तिचणं ते वचो रस आत्मा रोमाणि छन्दांसि
   प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः।
   अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति। काव्यमीमांसा अध्याय 3
4. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
   उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।
   आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य ··· ।। काव्यप्रकाश 8-66 एवं वृत्ति

और अर्थ काव्य के शरीर हैं और रसादि आत्मा है। गुण शौर्यादि की भाँति, श्रुतिकटुत्वादि दोष काणत्वादि की तरह, वैदर्भी आदि रीतियाँ अङ्गरचना के सदृश और उपमादि अलङ्कार कटककुण्डलादि के समान होते हैं।[1]

काव्य के भीतर रहने वाले आत्मतत्त्व (जीवनाधायक तत्त्व) के आधार पर मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने रसालङ्कारादि छः काव्यसम्प्रदायों की स्थापना कर दी थी। इन सम्प्रदायों में अपने अपने दृष्टिकोण से काव्य के आन्तरिक आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किये गये थे। काव्य के बाह्य शरीरभूत शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में विस्तृत और गहन विवेचन नहीं हो सका था। किन्तु मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों और काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के टीकाकारों ने काव्य के आत्मतत्त्व रसालङ्कारादि और शरीरतत्त्व शब्द अर्थ दोनों का अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत विश्लेषण किया है। काव्य के आन्तरिक और बाह्य तत्त्व दोनों को लेकर प्रचुरमात्रा में वाद विवाद और ऊहापोह हुआ है। आचार्य मम्मट द्वारा प्रस्तुत किये गये तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि इस काव्यलक्षण में अदोषौ और अनलङ्कृती पुनः क्वापि विशेषणांश है और शब्दार्थौ ये विशेष्यांश है। पहले अंश में काव्य का आन्तरिक स्वरूप निर्दिष्ट है तथा दूसरे अंश में काव्य के बाह्य स्वरूप को प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित वाक्यं रसात्मकं काव्यम् इस काव्यलक्षण के विशेष्यांश वाक्य और विशेषाणांश रसात्मक का उत्तरवर्ती आचार्यों एवं टीकाकारों ने खण्डन किया है। इस सारे विवेचन में काव्यशरीर बनने वाले शब्द और अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी नवीन तत्त्व का आविष्कार तो नहीं हुआ है किन्तु इनके पक्ष विपक्ष में कई युक्तियाँ और नये नये तर्क उपस्थित किये गये हैं। पण्डितराजोत्तर कुछ आचार्यों ने तो यह भी प्रतिपादित करना चाहा है कि काव्य को तो शब्द और अर्थ के द्वारा प्रकट ही किया जाता है वस्तुतः वह तो अशरीरी अर्थात् शरीरविरहित है और उसका आन्तरिक और बाह्य रूप अनिर्वचनीय है।

अपने अवच्छेदक धर्म काव्यत्व से समन्वित काव्य के अधिष्ठान या आश्रय के सम्बन्ध में मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों में मतैक्य नहीं है। काव्य में रहने वाला काव्यत्व

---

1. उक्तं हि काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत् अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत् इति। साहित्यदर्पण 1,2 वृत्ति

नामक तत्त्व क्या अकेले शब्द में रहता है? या अकेले अर्थ में इसकी अवस्थिति है? या शब्द और अर्थ दोनों में है अथवा अखण्डवाक्यार्थ इसका आश्रय है? अथवा क्या यह इनमें से किसी में भी नहीं रहता? इन विविध विकल्पों को लेकर मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों और काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण के टीकाकारों ने अपने अपने विचार प्रकट किये हैं। अकेले शब्द और अकेले अर्थ में काव्यत्व मानने वाले कुछ गिने चुने अलङ्कारवादी आचार्य ही हैं। इनके मत में जैसे केयूर, अङ्गद, हारादि अलङ्कार शरीर की शोभा बढ़ाते हैं वैसे ही अनुप्रासादि शब्दालङ्कार और रूपकादि अर्थालङ्कार काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। इन शब्दालङ्कारों में प्रयुक्त शब्द परिवृत्त्यसह होते हैं इनको बदला नहीं जा सकता। इसलिए वहाँ शब्द की प्रधानता होती है और इन अकेले शब्दों में काव्यत्व रहता है। इसी प्रकार रूपकादि अर्थालङ्कारों में शब्द परिवृत्तिसह होते हैं इनको बदला जा सकता है इसलिए वहाँ अर्थ की प्रधानता होती है क्योंकि इनके बदले जाने पर भी वहाँ काव्यत्व रहता है। वस्तुत: अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों में शब्द की प्रधानता रखते हुए अर्थानुकूल शब्दविन्यास किया जाता है। इसी प्रकार अर्थालङ्कारों में भी समुचित शब्दों का प्रयोग किया जाता है और अर्थ की प्रधानता होते हुए भी शब्दों का महत्त्व बना रहता है। इसलिए अकेले शब्द और अकेले अर्थ में काव्यत्व मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। इसी कारण केवल अर्थ में काव्यत्व मानने के सिद्धान्त को मान्यता नहीं मिल पाई है और संस्कृतकाव्यशास्त्र के सभी प्रमुख आचार्य या तो अर्थविशिष्ट शब्द अथवा शब्द और अर्थ दोनों में काव्यत्व मानते हैं अकेले शब्द और अकेले अर्थ में नहीं। इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्तक का कहना है-

रमणीयताविशिष्ट केवल शब्द में काव्यत्व नहीं रहता और न ही रमणीयताविशिष्ट केवल अर्थ में काव्यत्व होता है। इनका यह कथन युक्तिसङ्गत और समीचीन है।

2. काव्यशरीरसम्बन्धी वाद

काव्यशरीर सम्बन्धी इन मतों को निम्नलिखित भेदों में बाँटा जा सकता है- 1. शब्दकाव्यतावाद 2 अर्थकाव्यतावाद 3 अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद एवं 4. शब्दार्थकाव्यतावाद।

---

1. न शब्दस्य रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं नाप्यर्थस्य इति। वक्रोक्तिजीवित 1,7

शब्दकाव्यतावाद एवं प्रमुख आचार्य

शब्दकाव्यतावाद

शब्द ही काव्य का शरीर है और अर्थ की अपेक्षा शब्द का अधिक महत्त्व है। शब्दकाव्यतापरक इस मत का प्रवर्तन आचार्य दण्डी ने किया है और काव्यप्रकाश के टीकाकार चण्डीदास इसके अनुयायी हैं। वाक्यकाव्यतावाद के पोषक आचार्य विश्वनाथ और आचार्य विश्वनाथदेव भी इस मत को मानते हैं। क्योंकि आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदसमूह वाक्य होता है और रसात्मक वाक्य ही काव्य होता है ऐसा उनका कहना है।[1] इस वाद (मत) के लिए निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग किया जाता है-

1. शब्दकाव्यतावाद 2. शब्दप्राधान्यकाव्यतावाद 3. शब्दप्राधान्यप्रस्थान 4. अर्थविशिष्टशब्दकाव्यतावाद अथवा विशिष्टशब्दकाव्यतावाद।

शब्दकाव्यतावाद के अनुयायियों का कहना है कि यद्यपि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की सत्ता होती है किन्तु पहले शब्द का उच्चारण होता है तदनन्तर अर्थ प्रकट होता है इसलिए शब्द की प्रमुखता है और अर्थ की गौणता है। यदि अर्थविशिष्ट शब्द को काव्य न माना जाये तो निरर्थक समुद्रघोषादि पदों को भी काव्य मानना पड़ेगा और यदि अर्थ को काव्य माना जाये तो जड द्रव्य को भी काव्य माना जायेगा।[2]

शब्दकाव्यतावाद को अर्थविशिष्टशब्दकाव्यतावाद इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें अर्थ शब्द का विशेषण होता है और शब्द विशेष्य।[3] शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना के प्रसङ्ग में आचार्य मम्मट ने कहा है जब शब्द व्यङ्ग्यार्थ का अभिव्यञ्जक

---

1. (क) वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।
   (ख) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् · · · । साहित्यदर्पण 2,1
   वही 1,3
   (ग) जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
   यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।। साहित्यसुधासिन्धु।,4
2. तत्र शब्दः काव्यमित्युक्ते समुद्रघोषादावतिव्याप्तिः। अर्थ इत्युक्ते द्रव्यादौ। काव्यप्रकाश 1,4 बालचित्तानुरञ्जिनी टीका
3. विशिष्टस्य काव्यत्वे च यत्र शाब्दी व्यञ्जना शब्दालङ्कारो वा तत्रार्थ-विशिष्टः शब्दः काव्यम् यत्र त्वार्थी व्यञ्जना अर्थालङ्कारो वा तत्र शब्दविशिष्टोऽर्थः काव्यमिति विनिगमना। काव्यप्रकाश 1,4 आदर्शटीका

होता है तो अर्थ की सहकारिता होती है और जब अर्थ व्यङ्ग्यार्थ का अभिव्यञ्जक होता है तो शब्द की सहकारिता होती है।[1] सहकारित्व अर्थात् गौणभाव का यह सिद्धान्त शब्दकाव्यतावाद में अर्थसहकारित्व पर भी लागू होता है। इसमें अर्थ विशेषण होता है और शब्द विशेष्य इसलिए अर्थ की गौणता स्वीकार की गई है और शब्द की प्रधानता मानी गई है।

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्[2] पण्डितराजजगन्नाथप्रोक्त इस काव्यलक्षण में अर्थ और शब्द में विशेषणविशेष्यभाव है अतः यहाँ विशेषण अर्थ की गौणता और विशेष्य शब्द की प्रधानता है। अतः इनका काव्यलक्षण शब्दकाव्यतावाद अथवा अर्थविशिष्टशब्दकाव्यतावाद के अन्तर्गत है। कहीं कहीं अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों में शब्दों के चमत्कार के भीतर दबकर अर्थ इतना नगण्य और गौण पड़ जाता है कि उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता है वहाँ भी कुछ अलङ्कारवादी शब्दकाव्यतावाद मानते हैं। इनके मत में ऐसे स्थलों पर केवल शब्द में काव्यत्व होता है। कहीं कहीं केवल अर्थ में काव्यत्व होता है। वस्तुतः केवल शब्द और केवल अर्थ को काव्य इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि काव्य में इन दोनों की ही आह्लादकारिता होती है किसी एक की नहीं। इस आधार पर उपर्युक्त इन दोनों मतों का खण्डन हो जाता है।[3] कुन्तक ने भी कहा है कि रमणीयताविशिष्ट केवल शब्द और केवल अर्थ काव्य नहीं होता।[4] शब्दकाव्यतावाद और शब्दार्थकाव्यतावाद इन दोनों में समानता यह है कि दोनों मत वाले आचार्य शब्द और अर्थ दोनों की काव्यता मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि ये शब्दकाव्यतावादी शब्द की प्रधानता और शब्दार्थकाव्यतावादी शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता मानते हैं।

प्रमुख आचार्य

आचार्य मम्मट से पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों ने शब्दकाव्यतावाद का प्रवर्तनमात्र

1. तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दो यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा।
   अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः।।
   शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।।
   अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता।।
   काव्यप्रकाश 2,20; 3,23
2. रसगङ्गाधर 1,1
3. वाचको वाच्यश्च द्वौ सम्मिलितौ। तेन कविकौशलकल्पितकमनीयतातिशयः शब्द एव अर्थ एव वा काव्यमिति पक्षद्वयमपि निरस्तम् यस्माद् द्वयोराह्लादकारित्वं न पुनरेकस्य। काव्यप्रकाश 1,4 काव्यादर्शटीका
4. न शब्दस्य रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं नाप्यर्थस्य।
   वक्रोक्तिजीवित 1,7

कर दिया था। किन्तु इस मत के पक्ष में ऊहापोह, युक्ति प्रत्युक्ति आदि का प्रयोग मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों और टीकाकारों के ग्रन्थों में ही दृष्टिगोचर होता है। यहाँ इस मत के प्रवर्तक तथा समर्थक आचार्यों के विविध विचार प्रदर्शित किये जा रहे हैं।

1. **दण्डी**-आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है-

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।[1]

इष्ट (अभिलषित, मनोरम, चमत्कारी और हृदयाह्लादक) अर्थयुक्त और सम्पूर्ण पदसमूह काव्य का शरीर है।

इस लक्षण के अर्थव्यवच्छिन्ना पदावली में अर्थ विशेषण है और पदावली विशेष्य है। इसलिए यहाँ अर्थ की गौणता और शब्द की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त पदावली को काव्य का शरीर बताया है यहीं से काव्यपुरुष के उस रूपक का उद्‌गम है जिसे आगे चल कर मम्मट ने ये रसस्याङ्गिनो धर्माः तथा विश्वनाथ ने उक्तञ्च काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम् इत्यादि कहकर साङ्गरूपक के रूप में स्पष्ट किया है।[2] पदावली शरीरम् में शब्दकाव्यतावाद का सिद्धान्त बीज रूप में अन्तर्निहित है। इसी ने परवर्ती आचार्यों और टीकाकारों को शब्दकाव्यतावाद के सम्बन्ध में विचार करने के लिए प्रेरित किया।

2. **चण्डीदास**- काव्यप्रकाश के टीकाकार चण्डीदास ने आचार्य मम्मट के शब्दार्थोभयकाव्यतावाद का खण्डन किया है। उनके समय तक मम्मटप्रतिपादित शब्दार्थोभयकाव्यतावाद का सिद्धान्त स्थापित हो चुका था। मम्मट के काव्यलक्षण की उन्होंने इस प्रकार व्याख्या की है-

यहाँ शब्दार्थौ पद में शब्द को अधिक उत्कृष्ट बताते हुए मम्मट इसको समास में पहले रखते हैं। इस पूर्वनिपात के कारण शब्द की विशेष्यता प्रकट कर रहे हैं। शेष उत्तरांश अर्थात् अर्थ के अप्रधान होने के कारण उसके परनिपात से उसकी विशेषणता प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार काव्यत्व शब्दधर्म ही है। अर्थात् शब्द को ही काव्य मानना चाहिए। विशिष्टविभावादि रूप अर्थ में भी काव्य होने से अर्थ की भी प्रमुखता है। इसी बात का द्योतन करने के लिये शब्द के बराबर की कक्षा में अर्थ का निर्देश है अर्थात् अर्थ को भी शब्द के बराबर स्थान दिया गया है।

---

1. काव्यादर्श 1,10
2. काव्यप्रकाश 8.1; साहित्यदर्पण 1,2 वृत्तिभाग

इसके अतिरिक्त कविकर्मविशेष ही काव्य कहलाता है। वह पदकदम्बक रूप है। हमारा यह कहना है- आस्वाद रूप जीवन वाला शब्दसमूह काव्य है।[1]

यहाँ चण्डीदास ने मम्मटप्रोक्त शब्दार्थौ काव्यम् में अपने दृष्टिकोण को उनके ऊपर थोपा है। उनका कहना है कि मम्मट ने शब्द को अधिक उत्कृष्ट मानकर समास में पहले उसको रखा है और अर्थ को अप्रधान होने के कारण बाद में रखा है। इससे वे अर्थ को विशेषण तथा शब्द को विशेष्य इसलिये बना रहे हैं क्योंकि उन्हें शब्द का प्रधानभाव तथा अर्थ का गौणभाव अभीप्सित है। इस कारण वास्तव में काव्यत्व शब्द में ही सिद्ध होता है परन्तु क्योंकि अर्थ में विशिष्टविभावादियों का व्यापार समाविष्ट है अर्थात् रसादि की प्रतीति में अर्थ की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इसलिए अर्थ को भी शब्द के समान ही उन्होंने शब्दार्थौ में द्वन्द्वसमास करके बराबर महत्त्व दे दिया है। इसके अतिरिक्त कविकर्मविशेष ही काव्य कहलाता है। चण्डीदास की इस व्याख्या में विरोध एवं असङ्गति है। एक ओर वे यह कहते हैं कि मम्मट ने शब्दार्थौ में शब्द को विशेष्य और अर्थ को विशेषण रखा है। यह बात इन दोनों के पूर्वनिपात और परनिपात से प्रकट होती है। इस कारण शब्द का प्रधान और अर्थ का गौण स्थान है। दूसरी ओर वे यह कहते हैं कि क्योंकि काव्य में विभावादि रूप अर्थ की भी महत्ता है इसलिए मम्मट ने शब्दार्थौ इस द्वन्द्वसमास में शब्द और अर्थ को तुल्य महत्त्व प्रदान किया है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि आचार्य मम्मट को शब्द और अर्थ में विशेष्यविशेषणभाव इष्ट होता है तो वे द्वन्द्वसमास न करके अर्थेन विशिष्टः शब्दः इस अर्थ में अर्थविशिष्टः शब्दः अथवा अर्थशब्दः (मध्यपदलोपी समास) कर्मधारय समास करते। द्वन्द्वसमास में रहते हुए पद पूर्वपद की उत्कृष्टता का द्योतन तो कर सकते हैं—परन्तु वे विशेष्यविशेषणभाव को सूचित नहीं करते। सीतारामौ में सीता का अभ्यर्हिततरत्व सूचित होता है परन्तु इससे सीता का विशेष्यत्व तथा राम का विशेषणत्व नहीं सूचित होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ की द्वन्द्वसमास में विशेषणता और विशेष्यता ही

---

1. शब्दार्थाविति शब्दस्य पूर्वनिपातेनाभ्यर्हिततरत्वं द्योतयन् विशेष्यत्वमा-
विष्कारोति, शेषस्य तु परनिपातेनाप्राधान्याद् विशेषणत्वम्।
एवञ्च शब्दधर्म एव काव्यत्वं तस्य चार्थे विशिष्टविभावादि-
व्याप्रियमाणस्यैवायमतिशय इति ध्वननार्थमर्थस्य तुल्यकक्षतया निर्देशः।
किञ्च कविकर्मविशेषः काव्यमुच्यते-तच्च पदकदम्बमेव। · · · एतदुक्तं
भवति- आस्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यम्।
काव्यप्रकाश 1, 4 दीपिकाटीका।

नहीं सिद्ध हो पाती तो काव्य की शब्दधर्मता भी सिद्ध नहीं होती है। इस प्रकार चण्डीदास काव्य की शब्दधर्मता का निराधार प्रतिपादन करने के अनन्तर अपना यह अभिप्राय प्रकट कर रहे हैं कि वास्तव में काव्यता शब्द में ही रहती है परन्तु आचार्य मम्मट ने शब्द और अर्थ को द्वन्द्वसमास में तुल्यस्थान इसलिए दिया है क्योंकि विशिष्टविभावादि प्रकट तो शब्द से किये जाते हैं किन्तु उनका व्यापार अर्थ (दुष्यन्त शकुन्तला आदि नायक नायिकाओं) में रहता है। इसलिए शब्द के साथ साथ अर्थ को भी बराबरी का दर्जा मिल गया है। जब वे पहले शब्द और अर्थ की विशेष्यविशेषणता अभ्यर्हिततरत्व के आधार पर मम्मट के जिम्मे लगा बैठे हैं तो उसके बाद शब्द और अर्थ को तुल्यकक्षाप्राप्ति का अवसर ही नहीं मिल सकता। वस्तुत: शब्द विशेष्य होने के कारण अधिक अभ्यर्हित नहीं है अपितु अर्थप्रतीति का हेतु होने के कारण इसको यह अभ्यर्हिततरत्व प्राप्त है इस प्रकार चण्डीदास का विशेष्यविशेषणभाव के आधार पर यह खण्डन उचित नहीं है। वस्तुत: उन्होंने अर्थविशिष्टशब्दकाव्यतावाद का प्रतिपादन करके भी मम्मट के शब्दार्थौं का समर्थन अन्त में कर दिया है।

3. **विश्वनाथ**- साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में मम्मट के काव्यलक्षण के अदोषौ, सगुणौ और अनलङ्कृती पुन: क्वापि इन सभी शब्दार्थौं के विशेषणांशों का तो खण्डन किया है किन्तु उन्होंने शब्दार्थौं इस विशेष्यांश का खण्डन नहीं किया है। अपने शब्दकाव्यतावादी मत के विपरीत जाकर उन्होंने शब्दार्थौं का काव्य में महत्त्व मान करके शब्द और अर्थ को काव्य के शरीर के रूप में स्वीकार किया है-

उक्तं हि - काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणा: शौर्यादिवत्, दोषा: काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलङ्कारा: कटककुण्डलादिवत् इति।[1]

जब वे शब्दार्थौं को काव्यशरीर के रूप में मान चुके हैं तो उनको रसात्मकौ शब्दार्थौं को काव्यलक्षण के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिये और उन्हें अलग वाक्यं रसात्मकं काव्यम्[2] कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। वस्तुत: जिस वाक्य को उन्होंने काव्य माना है वहाँ भी आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति वाला पदसमूह बिना अर्थ के कैसे रह सकता है? उनका वाक्यलक्षण इस प्रकार है-

---

1. साहित्यदर्पण 1,2 वृत्ति
2. वही 1, 3

वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।[1]

योग्यता को उन्होंने पदों के साथ अर्थों के परस्पर निर्बाधसम्बन्ध के रूप में माना है। इस योग्यता को उन्होंने साक्षात् अर्थ का धर्म माना है तथा पद के साथ पारम्परिक सम्बन्ध स्वीकार किया है।[2]

इस प्रकार वाक्यं काव्यम् मानने वाले ये आचार्य भी अर्थ की काव्यता को स्वीकार तो कर रहे हैं परन्तु मम्मट की तरह तुल्यकक्षाप्राप्त शब्दार्थ में न मानकर अर्थविशिष्टपदोच्चय के रूप में मानते हैं।

इसके अतिरिक्त विश्वनाथ के वाक्यं रसात्मकं काव्यम् इस लक्षण में एक सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि यह काव्यलक्षण श्रव्यकाव्यों पर तो घट जाता हैं किन्तु दृश्यकाव्यों पर नहीं। विश्वनाथ ने स्वयं दृश्य को भी काव्य का भेद मानते हुए कहा है-

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयं ....॥[3]

दृश्यकाव्य में अभिनेयार्थ की प्रधानता होती है शब्द की नहीं। क्योंकि शब्द दृश्य नहीं होता । इस प्रकार वाक्यं काव्यम् इस काव्यलक्षण की परिधि में दृश्य-काव्य नहीं आ सकते। दशम परिच्छेद में अर्थालङ्कार का विवेचन इस बात का प्रमाण है कि वे अर्थ की काव्यता भी स्वीकार करते हैं।

विश्वनाथ का यह भी कहना है कि आस्वाद रूप वाक्य तभी काव्य बनता हैं जब उसका अर्थ भी हो क्योंकि शब्दसमुदायरूपवाक्य अर्थ से ही सिद्ध होता है।[4] इस प्रकार वे अर्थ की भी काव्यता स्वीकार करते हैं।

4. **विश्वनाथदेव**-साहित्यसुधासिन्धु में आचार्य विश्वनाथदेव ने पहले तो आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण का पूर्वाचार्यों की युक्तियों के आधार पर खण्डन दिखा दिया है और उनके खण्डन में अपनी भर्त्सना भी मिला दी है।[5] परन्तु उसके तुरन्त बाद उन्होंने पूर्वाचार्यों की युक्तियों के आधार पर पुनः इस मत की स्थापना भी दिखा दी

---

1. साहित्यदर्पण 2,1
2. अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात्। वही 2,1 वृत्ति
3. साहित्यदर्पण 6,1
4. काव्यप्रकाश 1,4 दर्पणटीका
5. तस्मादामूलविशीर्णमिदं प्राचीनप्रणयानुरोधेनात्र प्रदर्शितम्। साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति

है। इस मत की प्रतिष्ठा सिद्ध हो जाने पर फिर उन्होंने अपनी ओर से इसके विरुद्ध कुछ नहीं कहा। मौनं स्वीकृतिलक्षणम् इस नियम के अनुसार यही सिद्ध हो जाता है कि उनका मम्मट के काव्यलक्षण से विरोध नहीं है। उन्होंने शब्द:काव्यम् कहकर जो शब्द की परिभाषा दी है वह बड़ी व्यापक है और उसमें अर्थ का भी समावेश हो जाता है। शब्दः काव्यमित्यभिहिते कोऽसौ शब्दः इत्याकाङ्क्षायामाह-

आकाङ्क्षायोग्यतायुक्तस्तात्पर्यादिसमन्वितः।
शाब्दानुभवकारी यः स शब्दः परिकीर्तितः॥[1]

इस प्रकार वे भी शब्दः काव्यम् तथा वाक्यं काव्यम् इन दोनों प्रयोगों का एक ही अर्थ स्वीकार करते हैं। अर्थ का महत्त्व मानने वाले शब्दप्राधान्यकाव्यतावादी आचार्य शब्द और अर्थ में विशेष्यविशेषणभाव मानते हैं। मम्मट की तरह शब्द और अर्थ दोनों का तुल्यप्राधान्य नहीं।

5. **पण्डितराजजगन्नाथ**- उन्होंने रसगङ्गाधर में सबसे पहले अपने काव्यलक्षण को इस रूप में रखा है-

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।[2]

यहाँ अर्थप्रतिपादकः शब्दः कहते हुए उन्होंने अर्थ को विशेषण रखा है तथा शब्द को विशेष्य। इस प्रकार अर्थ को गौण स्थान प्रदान किया है और शब्द को प्रधान। इसके अनन्तर आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण का उन्होंने इस प्रकार खण्डन किया है-

यत्तु प्राञ्चः अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम् इत्याहुः। तत्र विचार्यते- शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम् मानाभावात् काव्यमुच्चैः पठ्यते काव्यादर्थोऽवगम्यते काव्यं श्रुतम्, अर्थो न ज्ञातः इत्यादिविश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च।[3]

यहाँ पण्डितराजजगन्नाथ ने काव्यमुच्चैः पठ्यते इत्यादि लोकव्यवहार के आधार पर मम्मटमत का खण्डन करके शब्दकाव्यतावाद को सिद्ध किया है।

नागेशभट्ट ने काव्यं बुद्धम् इस लोकव्यवहार के आधार पर अर्थ की भी

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 2,8
2. रसगङ्गाधर 1,1
3. वही 1,1

काव्यता सिद्ध कर दी है।[1] अतः पण्डितराज द्वारा मम्मटमत का खण्डन सोपपत्तिक नहीं रह जाता है। इसके अतिरिक्त मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन करके पण्डितराज ने दो स्थलों पर मम्मटप्रतिपादित शब्दार्थकाव्यत्व को अनजाने स्वीकार कर लिया है। प्रतिभा के लक्षण में उन्होंने कहा है-

तस्य च कारणं केवला प्रतिभा।
सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।[2]

इस काव्य का कारण केवल प्रतिभा है और काव्यरचना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति ही वह प्रतिभा कहलाती है। प्रतिभा के इस लक्षणवाक्य का विग्रह इस प्रकार निष्पन्न होता है-

काव्यस्य घटना काव्यघटना तस्या अनुकूलौ काव्यघटनानुकूलौ यौ शब्दार्थौ तयोः उपस्थितिः काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः प्रतिभा। इस लक्षण में शब्दार्थौ में द्वन्द्वसमास है। यहाँ पण्डितराज को यदि यह ध्यान रहता कि वे पहले शब्दार्थयुगलकाव्यतावाद का खण्डन कर आये हैं तो वे यहाँ काव्यघटनानुकूल-शब्दार्थोपस्थिति का प्रयोग न करते किन्तु उनके ऐसा न करने से यह लक्षण शब्दार्थकाव्यतावाद के पक्ष को पुष्ट कर रहा है। उत्तमोत्तम काव्य का उन्होंने इस प्रकार लक्षण किया है।

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्।[3]

शब्द और अर्थ दोनों अपने स्वरूप को गौण बनाकर जहाँ किसी अलौकिक रमणीयार्थ (चमत्कृतिजनक अर्थ को) व्यक्त करते हैं वह उत्तमोत्तमकाव्य कहलाता है।

यहाँ भी पण्डितराज भूल गये हैं कि वे पहले अपने काव्य के स्वरूपलक्षण रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् में शब्द को विशेष्य और अर्थ को विशेषण रूप में रखकर दोनों को क्रमशः प्रधान और गौण स्थान दे आए हैं। परन्तु फिर भी इस उत्तमोत्तमकाव्य के लक्षण में शब्दार्थौ को द्वन्द्वसमास के रूप में रख देने से उन्होंने इनको तुल्यकक्षता प्रदान कर दी है। इस प्रकार जब दोनों ही अलौकिक रमणीयार्थ के प्रतिपादक हो गये तो इनसे शब्दार्थकाव्यतावाद ही सिद्ध होता है शब्द-प्राधान्यकाव्यतावाद नहीं। इस कारण इनके काव्यलक्षण को रमणीयार्थप्रतिपादकौ शब्दार्थौ काव्यम् इस रूप में भी रखा जा सकता है।

---

1. काव्यं पठितम् श्रुतं काव्यम् बुद्धं काव्यमित्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति . . . . तेनानुपहसनीयकाव्य-लक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम्। रसगङ्गाधर 1,1 वृत्ति पण्डित बदरीनाथ झा कृत चन्द्रिकाटीका।
2. रसगङ्गाधर 1,1 वृत्ति
3. वही 1,2

यह भी हो सकता है कि शब्दकाव्यतावाद के समर्थक पण्डितराजजगन्नाथ ने शब्द के समकक्ष अर्थ को जान बूझ कर न रखा हो। वे काव्य की शब्दनिष्ठता को सिद्ध करते हुए भी अर्थ को और अधिक महत्त्व देना चाहते हों–वस्तुतः शब्द (वाचक) काव्य का बाह्य रूप है किन्तु अर्थ (वाच्य) इतना बाह्य नहीं है जितना कि शब्द। शब्द आधार है और अर्थ आधेय। इस कारण अर्थ को शब्द के स्तर पर रखकर इसे भी काव्यशरीर मान लेना उचित नहीं हैं। शब्द (वाचक) आकृतिमान् एवं स्थूल रूप है न कि अर्थ (वाच्य)। कवि के हृद्गत भाव तब तक काव्यपद के अधिकारी नहीं होते जब तक इन्हें वाणी अथवा वर्णों के रूप में शब्द का आकार नहीं मिल जाता। इसलिए अर्थ काव्यशरीर नहीं है केवल शब्द ही काव्यशरीर होने का अधिकारी है। किन्तु यह दृष्टिकोण पूर्णतया सही नहीं है। शब्द काव्य का शरीर न होकर सङ्गीत का शरीर होता है क्योंकि सङ्गीत में अर्थ (वाच्यार्थ) की अपेक्षा नही होती। इसके विपरीत काव्य में वाचक शब्द के साथ वाच्यार्थ की अपेक्षा भी रहती है। ये दोनों ही मिल कर काव्यशरीर कहलाते हैं।

इस प्रकार मम्मट के उत्तरवर्ती विश्वनाथ, विश्वनाथदेव और जगन्नाथ आदि जिन आचार्यों ने आचार्य मम्मट के शब्दार्थकाव्यतावाद के खण्डन की चेष्टा की है वे अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाये हैं।

6. **सिद्धिचन्द्र गणि**–उन्होंने अपनी काव्यप्रकाश की टीका में कहा है कि काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनों में रहने वाला है यह जो कहा है वह ठीक नहीं है। क्योंकि काव्य करता है, काव्य पढ़ता है और काव्य सुनता है इस प्रकार के लौकिक व्यवहार से शब्द में ही काव्यत्व की कल्पना करनी चाहिए। रही यह बात कि आस्वादव्यञ्जकता शब्द और अर्थ दोनों में रहती है। इस कारण इन दोनों को ही काव्य मानना चाहिए इसलिए केवल शब्द में ही काव्यता क्यों मानी जाये? यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि राग, भित्तिचित्र आदि भी आस्वादबोधक होते हैं। तो उनकी भी काव्यता को स्वीकार करो। इसके अतिरिक्त दोनों में काव्यत्व मानने से गौरव आता है इसलिए केवल शब्द में ही काव्यत्व मानना चहिये[1] उनका यह मत जगन्नाथ

1. यदपि काव्यत्वं शब्दार्थोभयवृत्ति तदपि न, काव्यं करोति, काव्यं पठति शृणोति चेति व्यवहाराच्छब्द एव काव्यत्वं कल्पनीयम्।
ननु आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तच्च शब्देऽर्थे चाविशिष्टं तथा च कथं काव्यं करोतीति व्यवहारस्य शब्दमात्रपरत्वं प्रसज्येत् इति चेन्न आस्वादव्यञ्जकानामन्येषामपि सत्त्वात् तेष्वपि काव्यत्वं स्वीकुरु।
उभयवृत्तिकल्पने गौरवात् काव्यं करोतीति काव्यपदस्य शब्दमात्रपरत्वे बीजत्वात्।
काव्यप्रकाश 1,4 काव्यप्रकाशखण्डनटीका

के मत से प्रभावित है। जगन्नाथ के रसगङ्गाधर में प्रदर्शित युक्तियों के आधार पर भी मम्मट के मत का खण्डन किया जा सकता है।

7. **कान्तिचन्द्र भट्टाचार्य**-उन्होंने लोकोत्तर चमत्कारोत्पादक वाक्य को काव्य कहा है।[1]

मम्मट के उत्तरवर्ती शब्दकाव्यतावाद के समर्थक कुछ आचार्यों ने मम्मट के शब्दार्थकाव्यतावाद के खण्डन की चेष्टा तो की है किन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली है। उन्होंने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं वे अकाट्य नहीं हैं। शब्दार्थकाव्यतावाद के समर्थक आचार्यों और काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने उन सबका स्थान स्थान पर खण्डन किया है।

अर्थकाव्यतावाद एवं प्रमुख आचार्य

अर्थकाव्यतावाद–इसको मानने वाले आचार्य काव्य में अर्थ की प्रधानता स्वीकार करते हैं। अर्थकाव्यतावाद के अन्य पर्यायवाची नाम अर्थप्राधान्य-काव्यतावाद और शब्दविशिष्टार्थकाव्यतावाद हैं। आर्थी व्यञ्जना में शब्दविशिष्ट अर्थ होता है और शब्द की सहकारिता और अर्थ की प्रधानता होती है।[2] आर्थीव्यञ्जना, अर्थालङ्कार, अर्थश्लेष एवं अर्थदोषों में अर्थ का प्राधान्य पाया जाता है और ऐसे स्थलों में शब्द परिवृत्तिसह होते हैं। शब्दों के बदलने पर भी अर्थ वैसे ही बने रहते हैं। वस्तुतः सामान्य स्थिति में शब्द और अर्थ दोनों का समान महत्त्व माना जा सकता है परन्तु यह तुल्यप्राधान्य वहाँ समाप्त हो जाता है जहाँ शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को गौण बनाकर व्यङ्ग्यार्थ रूप ध्वनि नामक विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं ऐसा आचार्य आनन्दवर्धन का कहना है।[3] किन्तु अधिकांश आचार्य या तो शब्दकाव्यतावाद के समर्थक हैं या शब्दार्थकाव्यतावाद के। अर्थकाव्यतावाद को भामह एवं उनके कतिपय पूर्ववर्ती अलङ्कारवादी आचार्य स्वीकार करते हैं।[4] इसमें सन्देह नहीं कि वाच्यालङ्कार रूप अर्थ की तुलना में व्यङ्ग्यालङ्कार रूप अर्थ अधिक

1. लोकोत्तरचमत्कारितया सहृदयहृदयाकर्षि वाक्यं काव्यमिति फलितम्। काव्यदीपिका 1,2 .वृत्ति
2. (क) विशिष्टस्य काव्यत्वे च यत्र शाब्दी व्यञ्जना शब्दालङ्कारो वा
   तत्रार्थविशिष्टः शब्दः काव्यम् यत्र त्वार्थी व्यञ्जना अर्थालङ्कारो
   वा तत्र शब्दविशिष्टोऽर्थः काव्यमिति विनिगमना। काव्यप्रकाश 1,4 आदर्शटीका
   (ख) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
   अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता।। काव्यप्रकाश 3,23
3. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
   व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्वन्यालोक 1,13
4. रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यै र्बहुधोदितः।
   न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।। काव्यालङ्कार 1,13

चमत्कारपूर्ण होता है। क्योंकि वस्तु या अलङ्कार से जब वस्तुध्वनि या अलङ्कारध्वनि व्यञ्जना से प्रतीत होती है तो उत्तम काव्य होता है।[1]

वस्तुत: काव्य में जहाँ वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में चमत्कार होता है वहाँ शब्द का महत्त्व कम हो जाता है। मुखं चन्द्र इव शोभनम् इस प्रयोग में वाच्यार्थ उपमालङ्कार में चमत्कार है और इस वाक्य के शब्दों को बदल कर वदनमिन्दुवद् भाति कर देने पर भी काव्यसौन्दर्य में न्यूनता नहीं आती है। अत: अर्थ की प्रधानता है। उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते[2] में लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता है। काव्य में वाच्यालङ्कारों का महत्त्व तो होता ही है किन्तु व्यङ्ग्यालङ्कारों का महत्त्व भी कहीं और अधिक होता है। य: कौमारहर: स एव हि वर:[3] इस उदाहरण में चमत्कार शृङ्गाररसध्वनि से ही आ रहा है किन्तु वह विभावना और विशेषोक्ति रूप व्यङ्ग्यालङ्कारों से भी हो रहा है। वस्तु से अलङ्कार की प्रतीति होने से यहाँ निश्चित रूप से उत्तमकाव्य ही है। विश्वनाथ का यह कहना ठीक नहीं है कि यहाँ शृङ्गाररसध्वनि के कारण काव्यत्व है विभावना और विशेषोक्ति से नहीं। प्रत्युत यहाँ शृङ्गाररसध्वनि और अलङ्कारध्वनि दोनों के कारण काव्यत्व है। इन दोनों ही ध्वनियों से चमत्कार उत्पन्न हो रहा है। इस प्रकार वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ तीनों अर्थों में शब्द की अपेक्षा अर्थ का विशेष महत्त्व पाया जाता है। शब्द: काव्यम् जैसे प्रयोगों में शब्द से अर्थ का भी अध्याहार किया जाता है। क्योंकि अर्थप्रतिपादक शब्द ही काव्य में रखा जाता है केवल शब्द नहीं। सामान्यत: शब्द: काव्यम् तथा वाक्यं काव्यम् इन दोनों ही प्रयोगों से शब्दप्राधान्यकाव्यतावाद का कथन होता है। क्योंकि शब्द: काव्यम् में शब्द न केवल अपना ग्रहण करता है परन्तु स्वसम्बद्ध अर्थ का भी ग्रहण करता है। निरर्थक शब्द से किसी अर्थ का ग्रहण नहीं होता है। इसी प्रकार योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पदसमूह का नाम वाक्य है। इस कारण सार्थक पदसमूह ही वाक्य होता है। यदि शब्द: काव्यम् या वाक्यं काव्यम् से केवल शब्दमात्र का ग्रहण माना जाता है तो श्रव्यकाव्य रघुवंशादि ही काव्य के अन्तर्गत आयेंगे, क्योंकि शब्द या वाक्य तो श्रवण ही किये जा सकते हैं देखे नहीं जाते। फिर अभिज्ञानशाकुन्तल जैसे दृश्यकाव्य शब्द: काव्यम् या वाक्यं काव्यम् के लक्ष्य नहीं बन सकते। इसके अतिरिक्त काव्यं श्रुतं, काव्यं पठितम् यह व्यवहार तो वाक्य में

---

1. व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्।। काव्यप्रकाश 5,46 वृत्ति
2. काव्यप्रकाश 4,24
3. काव्यप्रकाश 1,1

हो सकता है पर काव्यं बुद्धम् यह व्यवहार कैसे संगत होगा? क्योंकि बोध तो उसके अर्थ का हीं होता है। यदि अर्थ को काव्य नहीं माना जाये तो अर्थदोष, अर्थगुण तथा अर्थालङ्कार के निरूपण का क्या प्रयोजन होगा? शब्द का चमत्कार तो शब्दालङ्कारों और शब्दगुणों में ही देखने को मिलता है। किन्तु अर्थ का चमत्कार तो अर्थालङ्कार, अर्थगुण तथा अभिधामूला, लक्षणामूला तथा व्यञ्जनामूला त्रिविध व्यञ्जनाओं में और कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थों में भी देखने को मिलता है। रसादिध्वनि की अभिव्यक्ति में तो शब्द के समान अर्थ का व्यापार भी प्रधान होता है तो अर्थ की उपेक्षा कैसे की जा सकती है? कवि जैसे शब्द का निर्माण करता है वैसे ही अर्थ का निर्माण भी वही करता है। इसलिए अर्थ भी कविकर्म है। इसीलिए कतिपय अलङ्कारवादी आचार्य अर्थ का महत्ता को स्वीकार करते हुए चमत्कारजनक अर्थालङ्कार एवं रसादि को उत्तमकाव्य मानते हुए अर्थकाव्यतावाद का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। भले ही मम्मट जैसे आचार्य शब्दचित्र को अवरकाव्य मानते रहें काव्य में अर्थ की महत्त्व निर्विवाद है। वस्तुतः इस अर्थकाव्यतावाद का अन्तर्भाव शब्दकाव्यतावाद और शब्दार्थकाव्यतावाद के भीतर हो जाता है इसे पृथक् वाद मानने की आवश्यकता नहीं। तथापि यदि इसे अलग वाद के रूप में भी स्वीकार किया जाये तो यह अनुचित नहीं होगा। आचार्य भामह ने भी अलङ्कारवादी आचार्यों के दो मत बताये हैं-। अर्थालङ्कारवादी एवं शब्दालङ्कारवादी। अर्थलङ्कारवादी अप्पयदीक्षित ने केवल अर्थालङ्कारों का ही निरूपण किया है।

प्रमुख आचार्य– भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, विश्वनाथ-देव और पण्डितराजजगन्नाथ आदि सभी आचार्य इस अर्थकाव्यतावाद के पृष्ठपोषक हैं क्योंकि उन्होंने अपनी अपनी कृतियों में आर्थीव्यञ्जना, अर्थश्लेष, अर्थगुण एवं अर्थालङ्कारों के सविस्तर लक्षण और उदाहरण दिये हैं। इस प्रकार काव्य में शब्द की महत्ता के साथ साथ अर्थ की महत्ता भी स्वीकार की गई है। यद्यपि ये आचार्य रसवाद और ध्वनिवाद के समर्थक हैं किन्तु साथ साथ चमत्कृतिजनक अर्थ को प्रकट करने वाले अर्थप्रधान अलङ्कारादि के महत्त्व को भी भूलते नहीं हैं।

अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद एवं प्रमुख आचार्य

अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद

वस्तुतः काव्य में न तो शब्द और अर्थ दोनों का समान महत्त्व है और न ही अर्थ और शब्द में गौणप्रधानभाव है। अर्थ की सहकारिता होने पर शब्द का अधिक महत्त्व और शब्द की सहकारिता होने पर अर्थ का अधिक महत्त्व होता है यह नियम ठीक

नहीं है। इस कारण तीसरे मत अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद को मानने की आवश्यकता होती है। शब्द और अर्थ इन दोनों के भीतर अभेद अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध है। इस कारण इन दोनों को अखण्ड कहा जाता है। अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद को इसलिए स्वीकार करना आवश्यक है क्योंकि शब्द में शब्दत्व जाति और अर्थ में अर्थत्व जाति रहती है। ये दोनों पृथक् जातियाँ अपने आश्रय काव्य में युगपद् नहीं रह सकतीं इस कारण साङ्कर्यदोष आने के कारण शब्दार्थौ काव्यम् यह काव्यलक्षण असङ्गत है। यदि शब्दः काव्यम् कहा जाये तो इस शब्द में अर्थ का भी अध्याहार करना पड़ता है केवल शब्द या केवल अर्थ को काव्य नहीं माना जा सकता। शब्दार्थकाव्यतावाद और शब्दकाव्यतावाद इन दोनों ही पक्षों में साधकबाधक युक्तियाँ दी गई हैं। इनमें एक ही पक्ष को सिद्ध करने वाली युक्तियों का अभाव होने के कारण तीसरा यह मत ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

प्रमुख आचार्य

[illegible]ों साहित्यसुधासिन्धुकार आचार्य विश्वनाथदेव ने काव्य का यह लक्षण प्रस्तुत किया हैं–

वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेष-जनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं तथा च तदेव लक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति सर्वं सुस्थम् (साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्तिभाग)।

वास्तव में तो अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि (अदोषं गुणवत्काव्यम-लङ्कारैलङ्कृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन्) वाक्य से बताई हुई विधि से स्वर्गविशेष अर्थात् सुखविशेष के जनक उस काव्य के भीतर रहने वाली जनकता के अवच्छेदक अखण्डधर्म काव्यत्व की कल्पना कर लेनी चाहिए और वही काव्य का लक्षण हो जाये। आस्वादव्यञ्जकत्वं काव्यत्वप्रयोजकम्, अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ और शब्दः काव्यम् जैसे अननुगत अर्थात् असङ्गत लक्षणों का क्या लाभ? हमारा यही लक्षण अनुगत अर्थात् सुसङ्गत है।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथदेव ने अखण्डवाक्य को काव्य माना है। शब्द और अर्थ परस्पर सम्पृक्त हैं इनकी अलग अलग सत्ता नहीं है बल्कि अर्धनारीश्वर शिव की तरह इन दोनों की अपृथक् स्थिति है। जैसे एक आकाश में अनेकों में रहने वाला जाति रूप धर्म नहीं रहता और उनमें एक आकाशत्व रूप अखण्डोपाधिधर्म रहता है उसी प्रकार अखण्ड रूप में स्थित वाक्य में एक ही काव्यत्व रूप अखण्डोपाधि रहती है। सिद्धिचन्द्रगणि ने भी इस मत का प्रतिपादन किया है।

नवीनास्तु काव्यत्वमखण्डोपाधिः चमत्कारजनकतावच्छेदकस्य काव्यपद-प्रवृत्तिनिमित्तस्य चान्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् तदेव लक्षणमस्तु (काव्यप्रकाशखण्डन 1,4 वृत्ति भाग)। नवीनों का कहना है–चमत्कारजनक काव्य में रहने वाला काव्यत्व अखण्डोपाधि रूप ही है।

इस मत की स्थापना का आधार वेदान्त और व्याकरण है जिनमें पद और पदार्थ, वाक्य तथा वाक्यार्थ में अभेद स्वीकार किया गया है। काव्यप्रकाश में इन वैयाकरण और वेदान्तियों के मतों को इस प्रकार बताया है–

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम्।

(काव्यप्रकाश 4,47 वृत्तिभाग)।

अखण्डबुद्धि (क्रियाकारकादि के भेद के बिना एक ही बुद्धि) से समग्र रूप से समझे जाने योग्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है और अखण्ड वाक्य ही उसका वाचक है। वाक्य में स्थित पद या पदों के अर्थ उसी प्रकार अविभक्त होकर रहते हैं जैसे चित्र में विविध रंग और पानकरस में विभिन्न द्रव्य एक होते हैं[1] इस प्रकार अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद नामक यह त[illegible] मत मम्मट तथा मम्मटोत्तरवर्ती युग की प्रमुख देन माना जा सकता है।

शब्दार्थकाव्यतावाद एवं प्रमुख आचार्य

शब्दार्थकाव्यतावाद

आचार्य मम्मट और उनके अनुयायियों ने शब्दार्थौ काव्यम् कहकर शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना है। मम्मट का यह मत शब्दार्थप्रस्थान या शब्दार्थ-काव्यतावाद के अन्तर्गत आता है। उन्होंने अपने काव्यलक्षण में शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्त्व दिया है। शब्दश्च अर्थश्च शब्दार्थौ इस रूप में यह उभयपद प्रधान द्वन्द्व समास है।

1. न च वाक्यावस्थायां पदानि पदार्था वा विभिद्यन्ते यथा चित्रे नीलपीतरक्तादयः पानके गुडाम्लीकमरिचादयः ग्रामरागे षड्जर्षभगान्धारादयः पृथक्त्वेन नावभासन्ते (वृ. दे. 1,49) तथा क्रियाकारकविशेषणादिपदानि तदर्थवाक्यार्था अभेदेनैव प्रतीयन्ते वाक्यार्थो हि पदपर्यायस्त्वखण्ड एवाभिधीयमानो दृश्यते। का. प्र. विवेकटीका

प्रधान द्वन्द्वसमास है। जो पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के चार्थे द्वन्द्वः[1] इस सूत्र से निष्पन्न होता है। द्वन्द्वसमास में दोनों पदों का एक जैसा स्थान और महत्त्व होता है। इस समास में रहने वाले दोनों पद स्वतन्त्र होते हैं। काव्य में जितनी उपयोगिता शब्द की होती है उतनी ही अर्थ की होती है। काव्यप्रकाश के टीकाकार मणिक्यचन्द्र का कहना है कि शब्द और अर्थ जाति और व्यक्ति की तरह मिलकर अर्थ बनाते हैं।[2] कवि केवल शब्दों का निर्माण नहीं करता वह अर्थों को भी बनाता है। वस्तुतः कवि मृदादि से घटनिर्माण करने वाले कुम्हार की तरह स्वयं शब्दों को नहीं बनाता वह तो पदों का गुम्फनमात्र करता है।

जैसे मालाकार अन्य स्थानों से सूत्र और पुष्पों को लाकर उन्हें गूँथकर माला बना देता है वैसे ही कवि लोक में पहले से ही प्रचलित शब्दों को अपने काव्य में एकत्रित करके सुन्दर रूप में संवार कर रख देता है। इतने ही अंश में वह काव्य के पदों का निर्माता है। किन्तु वह मुखं चन्द्रः जैसे वाक्यों का प्रयोग करके कामिनीमुख का चन्द्रमा के साथ अभेदसम्बन्ध स्थापित करके मुखरूपी चन्द्रमा इस अलौकिक अर्थ का निर्माण करता है जबकि ब्रह्मा के द्वारा चन्द्रमा जैसे लौकिक पदार्थ ही बनाये जाते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के मम्मटोत्तरवर्ती अधिकांश आचार्य और टीकाकार शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मानते हैं और इन दोनों को समान महत्त्व देने के पक्षधर हैं।

शब्द और अर्थ इन दोनों की समष्टि में काव्यत्व स्वीकार करने वाले इन विद्वानों की धारणा है कि काव्य में शब्द और अर्थ का मिलन तो होता ही है किन्तु उसमें एक भाषा का दूसरी भाषा, एक भाव का दूसरे भाव, एक हृदय का दूसरे हृदय, अतीत का वर्तमान एवं जड़ का चेतन के साथ भी मिलन होता है। शब्दार्थ का यह सम्बन्ध नित्य और स्थायी होता है। महाकवि कालिदास ने कहा है-

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥[3]

वाणी और अर्थ की तरह परस्पर मिले हुए, अभिन्न रूप और इस संसार के माता पिता पार्वती और शिव को मैं नमस्कार करता हूँ। यहाँ अर्धनारीश्वर शिव की तरह शब्द और अर्थ को परस्पर संश्लिष्ट बताया है।

1. अष्टाध्यायी, 2,2,29
2. काव्यप्रकाश 1,4, सङ्केतटीका
3. रघुवंश 1,1

महाकवि माघ ने कहा है–

शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।[1]

अच्छे कवि की तरह विद्वान् को शब्द और अर्थ इन दोनों की अपेक्षा रहती है।

उपयुक्त शब्द से ही उपयुक्त अर्थ का अभिव्यञ्जन होता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है–

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।।

व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम्।[2] वह व्यङ्ग्य अर्थ और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त कोई विशेष शब्द ही होता है शब्दमात्र अर्थात् ऐसा वैसा कोई साधारण शब्द नहीं। महाकवि बनने के अभिलाषी पुरुष को उसी तरह के सक्षम शब्द और अर्थ भली प्रकार पहिचानने चाहियें। व्यङ्ग्यव्यञ्जक शब्दार्थों के सुन्दर प्रयोग से ही महाकवियों को महाकवि की पदवी प्राप्त होती है।

शब्दार्थ के इस अभेद को महाकवि तुलसीदास ने भली भाँति प्रदर्शित किया है–

गिरा अरथ जलवीचिसम कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दहु सीताराम पद जिन्हहि परमप्रिय खिन्न।।[3]

शब्द और अर्थ जलतरङ्ग के समान हैं और ये कहने मात्र के लिए भिन्न हैं किन्तु वस्तुतः यह अलग नहीं हैं। जैसे जल अपनी तरङ्ग से और तरङ्ग अपने जल से अलग नहीं है वैसे ही शब्द अर्थ से और अर्थ शब्द से भिन्न वस्तु नहीं है। ठीक उसी प्रकार एक दूसरे से अभिन्न सीता और राम के चरणों की मैं वन्दना करता हूँ। इन दोनों को खिन्न अर्थात् संसार से विरक्त जन बहुत अधिक प्यारे हैं।

यहाँ शब्दार्थकाव्यावाद के प्रमुख आचार्यों के मतों को दिखाया जा रहा है। साथ ही इस वाद के प्रतिनिधि दो प्रमुख भेदों का प्रतिपादन है। आस्वादव्यञ्जक-शब्दार्थकाव्यतावाद एवं गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थकाव्यतावाद नामक इन भेदों में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष में प्रयुक्त युक्तिप्रत्युक्तियों, तर्कवितर्कों एवं उहापोह से

1. शिशुपालवध 2,86
2. ध्वन्यालोक 1,8 तथा वृत्ति
3. रामचरितमानस बालकाण्ड दोहा 181.

मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों और टीकाकारों के सूक्ष्म चिन्तन, नूतनता एवं मौलिकता का परिचय मिलता है।

प्रमुख आचार्य

1. **भरतमुनि**- उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में काव्य (दृश्यकाव्य) का यह लक्षण दिया हैं-

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुतररसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति हि शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्।।[1]

कोमल और सुन्दर पदों से समृद्ध, क्लिष्ट अर्थात् न समझ में आने वाले शब्द और अर्थ से रहित, जनता के लिए सुख का बोध कराने वाला, युक्तियों से भरा हुआ, नृत्य की योजनायोग्य, बहुत से रसों की विधाओं से युक्त और अनेक सन्धियों के मिलन से युक्त दृश्यकाव्य ही नाटक के प्रेक्षकों के लिए शुभकाव्य होता है।

यहाँ शुभकाव्यम् के प्रथम विशेषण मृदुललितपदाढ्यम् में शब्दकाव्यतावाद का जो बीज विद्यमान है यही आगे चलकर रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् के रूप में वृक्ष के रूप को धारण कर गया है। इसी प्रकार द्वितीय विशेषण-गूढशब्दार्थहीनम् में शब्दार्थकाव्यतावाद का सिद्धान्त सूक्ष्म रूप से समाहित है। इस प्रकार भरत मुनि को इन दोनों मतों का आद्यप्रवर्तक माना जा सकता है।

2. **भामह**- उन्होंने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है-

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।[2]

सहित अर्थात् अविनाभावसम्बन्ध या सहभाव को प्राप्त शब्द और अर्थ काव्य हैं।

इसी काव्यलक्षण से शब्दार्थकाव्यतावाद का मत विधिवत् प्रवर्तित हुआ है।

---

1. नाट्यशास्त्र 16,11
2. काव्यालङ्कार 1,16

3. **वामन**- उन्होंने काव्य का लक्षण इस रूप में प्रस्तुत किया है-
काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयो र्वर्तते।[1]

4. **रुद्रट**- उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भामह का अनुगमन करते हुए कहा है-

ननु शब्दार्थौ काव्यम्।[2]

निश्चित रूप से शब्द और अर्थ ही काव्य हैं।

5, **आनन्दवर्धन**- आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यभाववादियों के मत का उल्लेख करते हुए बताया है-

शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम् ··· सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।[3]

काव्य शब्दार्थ शरीर वाला है और सहृदयहृदयाह्लादकशब्दार्थयुक्तत्व ही काव्य का लक्षण है। उनका यह भी कहना है कि उस प्रतीयमान अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ विशेष शब्द—इन दोनों को भली भाँति पहिचानने का प्रयत्न महाकवि को करना चाहिए।[4] वे यहाँ जिस व्यङ्ग्यार्थ की बात कर रहे हैं वह व्यङ्ग्यार्थ भी बिना वाच्यार्थ के नहीं आया करता है। इन दोनों का परस्पर सीधा सम्बन्ध है।

6. **राजशेखर**- वे आचार्य पद एवं अर्थ इन दोनों को ही पद कहते हैं-

व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थस्तौ पदम्।[5]

उन्होंने यह भी कहा है-

शब्दार्थयो र्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।[6]

---

1. काव्यालङ्कारसूत्र 1,1 वृत्ति
2. काव्यालङ्कार 2,1
3. ध्वन्यालोक 1,1 वृत्तिभाग
4. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
   यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।। वही 1,8
5. काव्यमीमांसा अध्याय 6 पदवाक्यविवेकप्रकरण।
6. वही प्रथम अधिकरण, अध्याय 2

शब्द और अर्थ का यथोचित सहभाव साहित्यविद्या कहलाता है।

7. **कुन्तक**–उन्होंने वक्रोक्तिजीवित में कहा है–

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।[1]

उन्होंने शब्दार्थ के साहित्य को काव्य माना है। अपने इस मत को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि काव्य की शोभाशालिता (सौन्दर्याधायकता) के प्रति शब्द और अर्थ इन दोनों की न्यूनत्व और आधिक्य से रहित, परस्परस्पर्द्धिभाव से अनिर्वचनीय लोकोत्तरमनोहरस्थिति ही शब्दार्थ का साहित्य कहलाती है।[2]

8. **मम्मट**– आचार्य मम्मट ने काव्यलक्षण इस प्रकार बताया है–

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।[3]

दोषों से रहित, गुणों से युक्त और कहीं कहीं अलङ्काररहित भी शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं।

मम्मट ने अपने काव्यलक्षण की विशेष व्याख्या नहीं की किन्तु आगे चलकर अष्टम उल्लास में शब्दार्थ, गुण और अलङ्कार के स्वरूप को स्पष्ट किया है। वहाँ उन्होंने शब्दार्थ को काव्य का शरीर बताया है। रस को काव्य का अङ्गी माना है। यदि शब्द और अर्थ में गुण, रस और अलङ्कारजन्य चमत्कार नहीं है तो उनमें काव्यत्व भी नहीं रहेगा क्योंकि रूप, रस और गुण से हीन नारी की तरह अलङ्कार, गुण और रस से हीन कविता भी किसी सहृदय को आह्लादित नहीं कर सकती। इस कारण मम्मट के काव्यलक्षण में शब्दार्थ के लिए गुणालङ्कारविशिष्टता अपेक्षित है।

शब्दार्थौ तत्(काव्यम्) से मम्मट का अभिप्राय है कि शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित एवं एकरूप होकर काव्य कहलाते हैं। अकेला शब्द और अकेला अर्थ काव्य नहीं होता अपितु दोनों व्यासज्यवृत्ति अर्थात् सहित रहकर ही काव्य कहे जाते हैं। इससे पहले मम्मट काव्यहेतुओं की चर्चा में बता चुके हैं कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति

---

1. वक्रोक्तिजीवित पृ. 27
2. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ।
   अन्यूनातिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥
   वक्रोक्तिजीवित 1,17
3. काव्यप्रकाश 1,4

और अभ्यास ये तीनों ही मिलकर काव्य के हेतु बनते हैं।[1] इन तीनों को समकक्ष रखना ही उचित होता है इसलिए इन तीनों को ही काव्य का हेतु कहा जाता है न कि ये अलग अलग काव्यकारण होते हैं। ठीक उसी प्रकार शब्द और अर्थ दोनों की काव्यनिर्माण में संयुक्तहेतुता, समकक्षता एवं समानमहत्ता है।

मम्मट को जिस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करने से ध्वनिप्रस्थापन-परमाचार्य कहा जाता है उसी प्रकार उन्हें शब्दार्थकाव्यतावाद का स्थापन और समर्थन करने के कारण शब्दार्थकाव्यताप्रस्थापनपरमाचार्य कहा जा सकता है। उत्तरवर्ती अधिकांश आचार्यों और काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने उनका अनुसरण करते हुए शब्दार्थकाव्यतावाद का प्रतिपादन किया है। यहाँ उनके उत्तरवर्ती आचार्यों और काव्यप्रकाश के टीकाकारों के द्वारा प्रतिपादित शब्दार्थकाव्यतावादसम्बन्धी मतों का उल्लेख एवं विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

मम्मटोत्तरवर्ती शब्दार्थकाव्यतावादी आचार्य

शब्दार्थसमष्टि में काव्यत्व मानने वाले आचार्यों के अनुसार शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। कवि स्वगतभावों (अर्थों) का प्रकाशन शब्दों के द्वारा करता है। काव्य में इन दोनों का सुन्दर समन्वय एवं सम्यक् समष्टि देखी जाती है।

1. हेमचन्द्र–अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।

काव्यानुशासन पृ. 16

2. विद्यानाथ– गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः।।

प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ. 42

3. वाग्भट–शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्।

वाग्भटालङ्कार पृ. 14

4. जयदेव– निर्दोषा लक्षणवती सरीति गुणभूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्ति र्वाक् काव्यनामभाक्।। चन्द्रालोक 1,7

---

1. शक्ति र्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।
इति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे
निर्माणे समुल्लासे च हेतु र्न तु हेतवः।।
काव्यप्रकाश 1,3 वृत्तिभाग

यहाँ प्रयुक्त वाक् शब्द के व्युत्पत्तिनिमित्तक ये दो अर्थ हैं-
वक्ति इति वाक् शब्दः उच्यते इति वाक् अर्थः।
इस कारण इनकी गणना शब्दार्थकाव्यतावादियों में की जाती है।

5. विद्याधर-शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः।

एकावली 1,13

6. राजचूडामणि-काव्यमदुष्टौ सगुणौ शब्दार्थौ सदलङ्कृती।

काव्यदर्पण पृ. 90

7. नरसिंह कवि-कविसमयानुरोधेन निबद्धौ शब्दार्थौ काव्यम्।

नञ्जराजयशोभूषण पृ. 14

8. श्रीकृष्णशर्मा-सालङ्कारगुणौ काव्यं शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
तथा कवीनां समयानुरोधेन निबन्धितम्।। मन्दारमरन्दचम्पू पृ. 186

9. विद्याराम-यस्तु शब्दार्थसन्दर्भश्चमत्कारकरोऽनघः।
काव्यं तद् गुणवच्चान्यत्काव्याभासमुदीर्यते।।

रसदीर्घिका पृ. 55

10. अच्युतराय- तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्त्वे सति स्फुटम्।
गद्यादिबन्धरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम्।।

साहित्यसार पृ. 7

11. सोमेश्वर शर्मा-सहृदयहृदयाह्लादकरौ शब्दार्थौ काव्यम्।

साहित्यसार पृ. 33

12. बदरीनाथ झा-काव्यं तत्र सहृदयाह्लादकशब्दार्थयो र्युगलम्।
साहित्यमीमांसा, झा कौमेमोरेशन वौल्यूम पूना ओरियण्टल सीरीज़ पृ. 39

13. छज्जूराम शास्त्री-रम्यं शब्दार्थयुगलं काव्यमस्माभिरिष्यते।
एवं हि चमत्कारविशिष्टं शब्दार्थयुगलं काव्यं फलितम्।

साहित्यबिन्दु पृ. 4-5

14. हरिदास-मनोहारिणौ शब्दार्थौ काव्यम्। काव्यकौमुदी पृ. 3

15. ब्रह्मानन्द शर्मा–शब्दार्थवर्ति सत्यस्य सुन्दरं प्रतिपादनम्।
काव्यस्य लक्षणं ज्ञेयं सत्यस्यात्र विशेषता।। काव्यसत्यालोक पृ. 72
16. कृष्णकान्त चतुर्वेद–चमत्कारबोधजनकं शब्दार्थयुगलम् काव्यम्।
अलङ्कारध्वनिविमर्श पृ. 6
17. वायुनन्दन पाण्डेय–चमत्कारिशब्दार्थौ काव्यमिति निर्दुष्टं काव्यलक्षणम्।
साहित्यसिद्धान्तसमीक्षा
18. शिवजी उपाध्याय–काव्यत्वे तत्र शब्दार्थगुणालङ्कारवृत्तयः।
औचित्यरीतिवक्रोक्तिदोषाभावादिसंस्थितिः। साहित्यसन्दर्भ 2,2

शब्दार्थकाव्यतावाद एवं प्रमुख टीकाकार–

1. **माणिक्यचन्द्र**– उनका कहना है–शब्द और अर्थ जाति और व्यक्ति की तरह मिलकर अर्थ बताते हैं। कवि के मुख में शब्द रहता है और अर्थ संसार में रहता है। ये दोनों ही मिलकर आह्लादक होते हैं प्रत्येक अर्थात् अलग अलग नहीं।

जो लोग शब्द में अलग काव्य और अर्थ में अलग काव्य मानते हैं उनके प्रति उनका कहना है कि शब्द में पृथक् काव्यत्व और अर्थ में पृथक् काव्यत्व इस लिए नहीं मानना चाहिए क्योंकि इन दोनों का परस्पर नित्य-सम्बन्ध है इस कारण इनको अलग नहीं किया जा सकता। इन दोनों में आह्लादकारित्व धर्म भी संयुक्त रूप में रहता है अलग अलग नहीं।[1]

2. **नरहरि सूरी सरस्वतीतीर्थ**– उनका यह कहना है–शब्द और अर्थ के बिना काव्य का होना असम्भव है।[2]

3. **भट्टगोपाल**– उन्होंने इस मत का इस प्रकार प्रतिपादन किया है–निर्दोषत्वादिविशेषणों से युक्त शब्दार्थयुगल काव्य होता है। ये दोनों ही मिलकर आह्लादकारी होते हैं जैसा कि वक्रोक्तिजीवित में कहा है–रमणीयताविशिष्ट केवल शब्द में अथवा केवल अर्थ में काव्यत्व नहीं हुआ

---

1. तदिति काव्यम्। शब्दार्थौ मिलितौ जातिव्यक्तिवदन्योन्याव्यभिचारित्वेन। एतेन शब्दार्थयोः भेदवादिनः प्रत्युक्ताः तैर्ह्युक्तं मुखे शब्दमुपलभामहे भूमावर्थमिति। एतेन कविनिर्मितकमनीयतातिशायिनोः शब्दार्थयोः प्रत्येकं काव्यत्वमिति पक्षद्वयमपि निराकृतम्। यतो द्वयोराह्लादकारित्वं न तु प्रत्येकम्। काव्यप्रकाश 1.4 सङ्केतटीका
2. शब्दार्थव्यतिरेकेण काव्यस्यासम्भवाच्च। काव्यप्रकाश 1,4 बालचित्तानुरञ्जिनीटीका

करता है।[1]

4. **सोमेश्वर**-- उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मानने का आग्रह किया है तथा इन दोनों का सहभाव काव्य में रहता है इसका प्रतिपादन किया है।[2]

5. **श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य**-उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के काव्यत्व का समर्थन किया है और बताया है कि शब्द को पहले और अर्थ को बाद में इसलिए रखा है क्योंकि शब्द का पहले ज्ञान होता है और अर्थ का उसके बाद ज्ञान होता है साथ ही उन्होंने अदोषौ आदि विशेषणों की सङ्गति भी दिखाई है।[3]

6. **गोविन्द ठक्कुर**- उनका कहना है कि निर्दोषत्वादिविशेषणविशिष्टशब्दार्थ काव्य होते हैं। यद्यपि गुण रसनिष्ठ होते हैं और शब्दार्थ के विशेषण नहीं बन सकते तथापि यहाँ गुणपद का प्रयोग रसव्यञ्जक वर्णपरक है।[4]

7. **नागोजी भट्ट**-उन्होंने प्रदीपटीका के ऊपर उद्योत नाम की टीका की है। उसमें उन्होंने बताया है क्योंकि अर्थ शब्द के आश्रित होकर रहता है

---

1. तदिति। निर्दोषत्वादिविशिष्टं शब्दार्थयुगलं काव्यमिति संक्षेपः। शब्दार्थौ द्वावेकं काव्यमित्यपूर्वत्वोद्भावनयोक्तिः। तेन कामनीयक-शालिशब्दः एव काव्यम् अथवा अर्थ एवेति पृथक् पक्षद्वयं प्रतिक्षिप्तम् येन तिलतैलन्यायाद् द्वयोः सम्भूयाह्लादनिबन्धनत्वं यदुक्तं वक्रोक्तौ (1,7) न शब्दस्य रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं नाप्यर्थस्य इति। काव्यप्रकाश 1,4 भट्टगोपालकृत साहित्यचूडामणिटीका
2. तदिति काव्यम्। शब्दार्थाविति वाचको वाच्यश्च द्वौ सम्मिलितौ। तेन कविकौशलकल्पितकमनीयतातिशयः शब्द एव अर्थ एव वा काव्यमिति पक्षद्वयमपि निरस्तम् यस्माद् द्वयोराह्लादकारित्वं न पुनरेकस्य। तत एवान्यैः काव्यलक्षणसूत्रे सहिताविति कृतम्। सहभावेन साहित्येन अवस्थितौ जातिव्यक्तिवदन्योन्याव्यभिचारित्वेनेत्यर्थः। काव्यप्रकाश 1,4 काव्यादर्श (सङ्केतटीका)
3. तददोषाविति। तत् काव्यम् शब्दार्थयोरुपादानपौर्वापर्यज्ञानपौर्वापर्यात् ... इत्यादि। काव्यप्रकाश 1,4 सारबोधिनीटीका
4. निर्दोषत्वादिविशेषणविशिष्टौ शब्दार्थौ तत् काव्यमिति व्यवहर्तव्यौ गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकवर्णपरं गुणपदम्। काव्यप्रकाश 1,4 प्रदीपटीका

इसलिए शब्द को पहले रखा गया है।[1]

8. **महेश्वरभट्टाचार्य**– उन्होंने शब्द और अर्थ की समष्टि को काव्य माना है। शब्द अर्थों को उपस्थित कराते हैं इसलिए इन दोनों में उपस्थाप्यो-पस्थापकभाव सम्बन्ध है। इस प्रकार काव्यत्व इन दोनों की समष्टि में रहता है न कि इन दोनों में अलग अलग।[2]

9. **रविभट्टाचार्य**- उनका कहना है कि काव्य व्यङ्ग्यार्थ के परामर्श के बिना चमत्कार नहीं करता। चमत्कारविहीन काव्य सहृदयों को वश में नहीं कर पाता और बिना वश में किए कान्तासम्मित उपदेश नहीं दिया जा सकता। इस कारण व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना के ऊपर आश्रित है और शब्द और अर्थ उसके आश्रय हैं। क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों की काव्य में समान रूप से प्रधानता है। उभयप्राधान्यज्ञापन के लिए द्वन्द्वसमास किया गया है।[3]

10. **भीमसेन दीक्षित**– उनका मानना है– शब्दार्थों में शब्द और अर्थ की पौर्वापर्य अवस्थिति इन दोनों के ज्ञान की पूर्वता और अपरता के कारण बताई है। काव्य में रहने वाला काव्यत्व धर्म दोषाभाव एवं गुणालङ्कारों से विशिष्ट शब्द और अर्थ दोनों में व्याप्त रहता है। इन विशेषताओं से युक्त शब्दार्थों के ज्ञान से ही रस की प्रतीति होती है। लोक में भी काणत्वादि दोषों से रहित पाण्डित्यसौन्दर्यादिगुणों एवं वस्त्रालङ्कारादि के पहनावे से युक्त ही व्यक्ति के देखने से चित्त चमत्कृत होता है न कि किसी एक के अभाव में चमत्कार हो सकता है। इसीलिए यहाँ तीनों विशेषणों को रखा

---

1. शब्दार्थाविति-अर्थाश्रयत्वाच्छब्दस्य प्रागुक्तिः।
काव्यप्रकाश 1,4 प्रदीपटीका उद्योतटीका।
2. तददोषाविति। शब्दार्थौ अर्थादुपस्थापकोपस्थाप्यभावेन परस्पर-
विशिष्टौ तत् काव्यमित्यर्थः · · · एवञ्च काव्यत्वं विशिष्टवृत्ति न प्रत्येकवृत्ति।
काव्यप्रकाश 1,4 आदर्शटीका
3. काव्यं हि व्यङ्ग्यपरामर्शनं विना न चमत्करोति, अचमत्कृतञ्च
न वशयेत् अवशयच्च नोपदेशे पर्यवस्येत् इति तत्प्रतिपत्तिरावश्यकी।
सा च व्यञ्जनाधीना तस्याश्च शब्दार्थौ आश्रयौ, इत्येतावन्मात्रेणैव
उभयोः समप्राधान्यं विवक्षितं द्वन्द्वसमासाश्रयणात् · · ·
अत एव शब्दार्थौ इति उभयप्राधान्यज्ञापनाय द्वन्द्वः।
काव्यप्रकाश 1,4 मधुमतीटीका

गया हैं।[1]

11. **परमानन्द चक्रवर्ती**- उन्होंनें शब्दार्थकाव्यतावाद के विषय में बताया है कि विभावादि के उपस्थापक शब्द में ही काव्य मानें अथवा शब्दों द्वारा उपस्थित अर्थ में ही काव्य को स्वीकार करें इसमें कोई विनिगमना (एकतरपक्षपातिनी युक्ति) नहीं है इसलिए दोनों में ही काव्यत्व है। आस्वादव्यञ्जकता शब्द और अर्थ दोनों में देखी जाती है इसलिए केवल शब्द ही काव्य नहीं है। काव्यगत शब्द और अर्थ दोनों चमत्कारापरनामा रस को सहृदय के हृदय में उत्पन्न करते हैं इस कारण दोनों ही काव्य हैं।[2]

12. **गोकुलनाथ उपाध्याय** - उनका कहना है कि अर्थविशेष से युक्त शब्द की तरह शब्दविशेष से युक्त अर्थ ये दोनों ही काव्य में लोकोत्तर चमत्कार के अभिव्यञ्जक होते हैं इस लिए दोनों का ही प्रधान रूप से उल्लेख किया गया है। दण्डी ने अपने काव्यलक्षण में व्यवच्छेद शब्द का प्रयोग समुच्चय अर्थ में किया है न कि अलग अलग अर्थ में। शब्द और अर्थ दोनों ही मिलकर काव्य बनते हैं।[3]

---

1. · · · · शब्दार्थयोरुपादानपौर्वापर्यं ज्ञानपौर्वापर्यात्। ...तच्च दोषाभाव-गुणालङ्कारै र्विशिष्टयो: शब्दार्थयो र्व्यासज्यवृत्ति। तैर्विशिष्टयो र्ज्ञानत एव रसोद्बोधात्। लोकेऽपि हि काणत्वादिदोषाभावेन पाण्डित्यसौन्दर्यादिगुणेन वस्त्रालङ्कारादिपरिच्छदेन विशिष्टस्यैव दर्शनाच्चित्तं चमत्करोति न त्वेकदेशवैकल्येन। अतएव दोषाभावादि-विशेषणत्रयनिवेश:। काव्यप्रकाश 1,4 सुधासागरटीका।
2. विभावाद्यर्थोपस्थापकेषु च शब्देषु तदुपस्थापितार्थेषु वा काव्यत्वमिति विनिगमनाविरहेण द्वितयवृत्त्येव। अपि चास्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्व-प्रयोजकरूपम् तत्तु शब्देष्वर्थेषु चाविशिष्टम् तेष्वपि व्यञ्जनावृत्त्यङ्गी-कृतेरिति न शब्दमात्रं काव्यम्। श्रुतिकटुत्वापुष्टत्वादिदोषरहिताभ्यां माधुर्यौज:प्रभृतिगुणवद्भ्यामनुप्रासोपमाद्यलङ्कारालङ्कृताभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां सहृदयहृदयधाम्नि चमत्कारपर्यायो ब्रह्मानन्दरसास्वाद: प्रकाश्यते अतएव यदेवानन्दं करोति तदेव काव्यमित्युक्तम्। काव्यप्रकाश 1,4 विस्तारिकाटीका।
3. विनिगमनाविरहादर्थविशेषावरुद्धशब्द इव शब्दविशेषावरुद्धोऽर्थोऽपि लोकोत्तरचमत्कारव्यञ्जकतया काव्यमित्युभयो: प्राधान्येन निर्देश:। · · · · यत्तु शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली इति दण्डिवचनम् तत्र व्यवच्छेद: समुच्चय एव नत्ववच्छिन्नम् विनिगमनाविरहात्। काव्यप्रकाश 1,4 विवरणटीका

13. **वामनाचार्य झलकीकर** - उन्होंने शब्दकाव्यतावाद और शब्दार्थ-काव्यतावाद के सम्बन्ध में पक्ष विपक्ष की युक्तियाँ एवं प्रत्युक्तियाँ उपस्थित करके दोनों मतों का दिग्दर्शन उत्तमता से किया है। पूर्ववर्ती शब्दकाव्यतावाद के समर्थक आचार्य जगन्नाथ आदि एवं शब्दार्थ-काव्यतावाद के समर्थक आचार्य मम्मट आदि के पक्ष को युक्तिपूर्वक प्रदर्शित किया है।[1]

इस प्रकार काव्यप्रकाश के अधिकांश टीकाकारों ने मम्मट के काव्यलक्षण के शब्दार्थकाव्यतावाद पक्ष का समर्थन किया है परन्तु कुछ एक ही आचार्यों ने इसका खण्डन किया है। इसी प्रकार साहित्यदर्पण के टीकाकार गुरुनाथ एवं कृष्णमोहन ने मम्मटमत का समर्थन किया है।[2]

शब्दार्थकाव्यतावाद के भेद-

यहाँ शब्दार्थकाव्यतावाद के निम्नलिखित दो भेदों की समीक्षा की जा रही है-

(1) आस्वादव्यञ्जकशब्दार्थकाव्यतावाद

(2) गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थकाव्यतावाद

आस्वादव्यञ्जकशब्दार्थकाव्यतावाद

इस मत के अनुयायी आस्वाद अर्थात् रस के व्यञ्जक शब्दार्थयुगल को काव्य मानते हैं। इस मत का उल्लेख विश्वनाथदेवविरचितसाहित्यसुधासिन्धु में इस रूप में मिलता है-

केचित्तु आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तत्तु शब्दे चार्थे चाविशिष्टमिति शब्दवदर्थेऽपि काव्यत्वमिति प्राहुः।।[3]

आस्वाद का अभिव्यञ्जन करना ही काव्यत्व का प्रयोजक (हेतु) है। यह आस्वाद का अभिव्यञ्जन तो शब्द और अर्थ दोनों में ही समान रूप से रहता है। इस कारण शब्द की भाँति अर्थ में भी काव्यत्व होता है इस प्रकार कुछ आचार्य कहते हैं। इन आस्वादवादियों के मतानुसार काव्य का इतना ही लक्षण है-

---

1. काव्यप्रकाश 1,4 बालबोधिनीटीका
2. (क) प्रकाशोक्तं काव्यलक्षणमेव ज्यायः। साहित्यदर्पण 1,3 विवृतिपूर्तिटीका
   (ख) शब्दार्थौ काव्यम् इत्येव निर्दुष्टमिति । वही 1,3 लक्ष्मीटीका
3. साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति

आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्। आस्वाद (रस) की अभिव्यञ्जना काव्यत्व का प्रयोजक (प्रेरक) हेतु है। रससृष्टिरूप प्रयोजन को दृष्टि में रखकर ही कवि अपने कविकर्म में प्रवृत्त होता है। क्योंकि यह आस्वादाभिव्यञ्जकता शब्द और अर्थ दोनों में ही पाई जाती है इसलिए शब्दार्थ की समष्टि को ही काव्य माना जाना चाहिए। आस्वादाभिव्यञ्जकता अर्थात् रसनिष्पत्ति शब्द और अर्थ इन दोनों के ही उपस्थित होने पर होती है। काव्यों और रूपकों में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के वाचक शब्दों को रखा जाता है। वाचन, पठन और अभिनय द्वारा उन उन शब्दों से तत्सम्बद्ध अर्थों को उपस्थित किया जाता है। उन उन अर्थों के साथ सहृदयहृदयस्थ स्थायिभावों के साथ सम्बन्ध होने से रसनिष्पत्ति होती है। यह रसाभिव्यञ्जना शब्द और अर्थ दोनों के द्वारा निष्पन्न होती है। इसलिए शब्द और अर्थ इन दोनों में ही काव्यत्व रहता है। इन दोनों में अलग अलग काव्यत्व न होकर इन दोनों की समष्टि में काव्यत्व रहता है।

वस्तुतः काव्यं करोति जैसे स्थलों में काव्य शब्द का प्रयोग शब्दार्थसमूह के लिए होता है। इस प्रकार कवि शब्दनिर्माण के साथ साथ अर्थनिर्माण भी करता है। अतः काव्यं करोति यह व्यवहार अवयवावयविभाव रूप सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा सङ्गत हो रहा है। जिन शब्दों का समुदाय में प्रयोग होता है उनका एक देश में भी प्रयोग होता है। जैसे हस्त शब्द पूरी बाँह का वाचक होते हुए भी हस्ताग्र अर्थात् हथेली रूप एक अवयव को भी बतलाता है उसी प्रकार काव्य पद वस्तुतः शब्द और अर्थ दोनों का वाचक होते हुए भी अवयवावयविभावसम्बन्ध से लक्षणा द्वारा केवल शब्द और केवल अर्थ का वाचक बन जाता है। काव्यं बुद्धम् जैसे प्रयोगों में काव्यशब्द अर्थ का वाचक है। पतञ्जलि के निम्नलिखित वाक्य से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है-

समुदाये प्रवृत्तः शब्दः अवयवेष्वपि वर्तते तैलं भुक्तं घृतं भुक्तमितिवत्[1]। शब्द और अर्थ दोनों के समुदाय को बताने वाला शब्द अपने अवयवों अर्थात् अकेले शब्द और अकेले अर्थ में भी बोधक बनता हुआ (रहता है) जैसे तेल खा लिया है और घृत खा लिया है इन वाक्यों में अवयवियों के अर्थ को बताने वाले ये पद अवयवों को भी बता देते हैं। तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम् इन वाक्यों में प्रयुक्त संसार के यावन्मात्र तेल और घृत के वाचक शब्द 10 ग्राम तेल और घी रूप स्वल्पमात्रा का बोध कर देते हैं। जैसे अवयविबोधक ये पद अवयवों का भी ज्ञान करा देते हैं वैसे ही काव्यं करोति आदि पद शब्दार्थ में व्यवहृत होते हुए भी अवयवावयविभावसम्बन्ध

1. पातञ्जल महाभाष्य ऋलृक् सूत्र की व्याख्या

से लक्षणा द्वारा शब्दपरक काव्यव्यवहार करा देते हैं। अतः काव्यं करोति इत्यादि व्यवहार केवल शब्द में भी कर दिया जाता है। वस्तुतः शब्दार्थसमुदाय में इसका प्रयोग बाधक नहीं है। कवि शब्द ही बनाता है अर्थ नहीं यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि कवि अर्थों का भी निर्माण करता है। चन्द्र रूप अर्थ भले ही ब्रह्मा द्वारा निर्मित होता है परन्तु कामिनीमुखचन्द्र जैसे अर्थ कवि द्वारा निर्मित होकर काव्य में रखे जाते हैं।

वस्तुतः कवि शब्द का भी निर्माण नहीं करता है वह केवल शब्दों का गुम्फन करता है। शब्दनित्यत्ववादी वैयाकरणों के अनुसार शब्द नित्य होने के कारण बनाये नहीं जाते वे तो पूर्वसिद्ध वस्तु हैं। कवि पहले से वर्तमान इन पदों को चुन चुन कर अपने काव्य में रख देता है। इस प्रकार कविः काव्यं करोति यह व्यवहार भी बधित हो जाता है यहाँ भी अर्थबोध के लिए लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। इसलिए काव्यं करोति आदि व्यवहारों में काव्य शब्द का प्रयोग लक्षणा से किया जाता है ऐसा शब्दार्थकाव्यतावादियों का मत है।

शब्दकाव्यतावाद को मानने वाले आचार्य शब्दार्थकाव्यतावादियों पर यह आक्षेप कर सकते हैं- शब्द और अर्थ दोनों को काव्य नहीं माना जा सकता क्योंकि काव्यं करोति इत्यादि व्यवहार काव्य की शब्दपरकता को सिद्ध करते हैं। इस शङ्का के समाधान के लिए विश्वनाथदेव का कहना है-

काव्यं करोतीत्यादिव्यवहारस्तु शब्दपरतया नेयः।[1]

काव्यं करोति, काव्यं पठति, काव्यं शृणोति इत्यादि स्थलों में काव्यपद का शब्दपरक प्रयोग सामान्यतः शब्द और अर्थ इन दोनों की समष्टि के लिए होता है परन्तु कहीं कहीं इनका प्रयोग शब्द और अर्थ इन दोनों में न होकर केवल शब्द में भी लक्षणा से हो जाता है।

आस्वादवाद स्वतन्त्रमत अथवा उत्तरपक्ष

श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने स्वरचित काव्यपरीक्षा में यह मत पूर्वपक्ष के आचार्यों के मतों के पहले रखकर उत्तरपक्ष में दिखाया है-

तत्रादौ काव्यस्वरूपमाह-

काव्यमास्वादजीवातुः पदसन्दर्भ उच्यते।
सालङ्कारगुणादोषौ शब्दार्थाविति केचन॥

1. सहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति

काव्यं करोति, काव्यं पठति, काव्यं शृणोतीत्यादिव्यवहाराच्छब्द एव काव्यमिति प्राञ्चः। केचित्तु आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तत्तु शब्दे चार्थे चाविशिष्टमिति शब्दवदर्थेऽपि काव्यत्वम्[1]

काव्यपरीक्षा तथा सारबोधिनीटीका में विषयप्रतिपादनशैली एवं सामग्री एक ही प्रकार की हैं। आचार्य विश्वनाथदेव ने यहाँ दीपिका टीका में प्रदर्शित चण्डीदास का मत नहीं दिखाया है किन्तु आगे जाकर नामग्रहणपूर्वक इनका मत दिखाया है।[2] इसी प्रकार श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्यकृत काव्यपरीक्षा तथा काव्यप्रकाश की सारबोधिनी टीका में प्रतिपादित पूर्वपक्ष को छोड़कर उनके द्वारा प्रतिपादित केवल उत्तरपक्ष को लेकर आस्वादवादियों के मत को इस प्रकार रख दिया है-

केचित्तु-

आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् तत्तु शब्दे चार्थे चाविशिष्टमिति शब्दवदर्थेऽपि काव्यत्वमिति प्राहुः।[3]

यहाँ यह बात विचारणीय है कि विश्वनाथदेव द्वारा उपस्थापित इन पङ्क्तियों में क्या आस्वादवादियों के एक स्वतन्त्र मत का प्रतिपादन हुआ है अथवा ये पङ्क्तियाँ शब्दकाव्यतावाद के विरोध में दी गई युक्तियाँ मात्र हैं इस सम्बन्ध में दोनों ही पक्ष में साधक बाधक युक्ति होने से दोनों ही बातें सम्भव हैं। इसे स्वतन्त्र आस्वादवादियों का मत मानने के पक्ष में तो यह युक्ति जाती है कि यहाँ केचित्तु- आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् इस रूप में रखकर आचार्य विश्वनाथदेव ने इसे एक स्वतन्त्र मत का रूप दे दिया है। पूर्ववर्ती श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य ने भी काव्यपरीक्षा में इसका प्रतिपादन केचित्तु से किया है तथा सारबोधिनी में भी अत्र केचित् इस रूप से इस मत का समारम्भ किया है। इसके विरोध में यह युक्ति हो सकती है क्योंकि पूर्ववर्ती श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने इसे शब्दकाव्यतावादी चण्डीदास के खण्डन में युक्ति रूप में प्रयुक्त किया है इसलिए यह शब्दकाव्यतावाद का खण्डनमात्र है पर कोई काव्यलक्षण या काव्यसिद्धान्त नहीं है। सूक्ष्मता से यदि विचार किया जाये तो साहित्यसुधासिन्धु में आचार्य विश्वनाथदेव ने भी इसे अपने मत पर आक्षेप करने के लिए अपने मत को पूर्वपक्ष में रखकर इसे उत्तरपक्ष में रखा है। ग्रन्थकार ने अपना काव्यलक्षण इस प्रकार बताया है-

---

1. काव्यपरीक्षा 1,1 तथा वृत्ति
2. तेनास्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यमिति चण्डीदासप्रभृतयः। साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति।
3. साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति

जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।।[1]

यह लक्षण बताकर वे वाक्यकाव्यतावाद अर्थात् शब्दकाव्यतावाद का समर्थन करके स्वयं चण्डीदास की पङ्क्ति में आकर शब्दकाव्यतावाद के समर्थक बन गए हैं। इसके तुरन्त बाद ही आस्वादवादियों की ओर से केचित्तु आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् कहलवाकर वे अप्रत्यक्ष रूप से अपने ही मत का खण्डन करवा रहे हैं। इस प्रकार यह अंश स्वतन्त्र काव्यलक्षण न होकर शब्दकाव्यतावाद की पक्षसाधिका युक्तिमात्र बनकर रह जायेगा।

क्योंकि इस मत को विश्वनाथदेव ने यहाँ केचित्तु कहकर स्वतन्त्र रूप में रख दिया है इसलिए इसे स्वतन्त्र काव्यलक्षण मान लिया है। यदि यहाँ आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् के स्थान पर आस्वादव्यञ्जक-शब्दार्थमयत्वं काव्यत्वम् यह काव्यलक्षण बना दिया जाये तो इस लक्षण में और अधिक स्पष्टता आ जायेगी।

पण्डितराजजगन्नाथ द्वारा इस मत का खण्डन

आस्वादवादियों के इस मत का खण्डन पण्डितराजजगन्नाथ ने इस प्रकार किया है–

यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहुः, तन्न, रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकसम्मतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः। किं बहुना नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्त्वापत्ति दुर्वारैव। एतेन रसोद्बोधसमर्थस्यैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्तम्।[2]

आस्वाद (आनन्द अथवा रस) का उद्बोधक होना ही काव्यत्व का प्रयोजकहेतु है। अर्थात् काव्य वह है जो आस्वाद को उत्पन्न करता है और यह आस्वादोद्बोधकता शब्द और अर्थ दोनों में समान रूप से रहती है अतः शब्द और अर्थ दोनों काव्य हैं। इस रूप में कुछ आचार्य जो कुछ कहते हैं वह ठीक नहीं है अर्थात् उन आचार्यों का यह मत युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि राग की भी रस-व्यञ्जकता ध्वनिकार आनन्दवर्धन आदि सभी अलङ्कारशास्त्रियों द्वारा अनुमोदित है इसलिए प्रस्तुत काव्यलक्षण में उनकी भी लक्ष्यता की प्राप्ति हो जायेगी अर्थात् यदि यह मत मानने लगें तो राग को भी काव्य मानना पड़ जायेगा। परन्तु भैरवादिरागविशेषों को कोई भी काव्य नहीं मानता। अधिक क्या कहें यदि आस्वादोद्बोधक राग को

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,4
2. रसगङ्गाधरप्रथमाननकाव्यलक्षणप्रकरण

काव्य मानेंगे तो नाट्य के नेपथ्य, अङ्गहार, वस्त्रविशेष तथा सजावट की सभी वस्तुओं की काव्यलक्षणप्राप्ति नहीं हटाई जा सकेगी अर्थात् उनको भी काव्य मानना पड़ जायेगा। इस कारण जो रसोद्बोधन में समर्थ हो वही काव्यलक्षण का लक्ष्य है। यह कथन भी खण्डित समझना चाहिए।

पण्डितराजजगन्नाथ के अनुसार यहाँ आस्वाद शब्द से सामान्य सुख का ग्रहण नहीं है। यदि सामान्य सुख का ग्रहण करेंगे तो पुत्रस्ते जातः इत्यादि की भी काव्यता होने लग जायेगी इसलिए आस्वाद शब्द से यहां सुखविशेष या चमत्कारविशेष का ही ग्रहण है जो काव्य से ही प्राप्त होता है न कि रागादि से। वस्तुतः वह आस्वादोद्बोधक शब्द काव्य है जिसमें कविकर्मता हो। राग, नेपथ्य आदि में क्योंकि कविकर्मता नहीं होती इसलिए वे काव्य नहीं कहलाते।

वस्तुतः पण्डितराज का यह खण्डन युक्तियुक्त नहीं है। राग और नेपथ्यादि को तो कोई भी काव्य नहीं कहता। आस्वादवादियों के आस्वादोद्बोधकत्वं काव्यत्वम् तथा पण्डितराज के अपने चमत्कारत्ववत्त्वमेव काव्यत्वम् में कोई भेद नहीं है।

श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य की काव्यपरीक्षा और सारबोधिनी से उद्धृत इस मत की विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु में कोई आलोचना नहीं की है परन्तु उत्तरवर्ती पण्डितराजजगन्नाथ ने इस मत को न केवल उद्धृत किया है किन्तु इसका खण्डन भी किया है।

आस्वादव्यञ्जकशब्दार्थकाव्यतावाद का महत्त्व

साहित्यसुधासिन्धु में इस वाद को निम्नलिखित रूप में प्रदर्शित किया है– आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तत्तु शब्दे चार्थे चाविशिष्टमिति शब्दवदर्थेऽपि काव्यत्वमिति प्राहुः।[1]

यहाँ आस्वादव्यञ्जकता को काव्य का अवच्छेदक धर्म बताया है। यह आस्वादव्यञ्जकता काव्य में रहती है और काव्य का आश्रय शब्द और अर्थ दोनों हैं इस कारण परम्परासम्बन्ध से इस आस्वादव्यञ्जकता का सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनों के साथ है। क्योंकि यह आस्वादव्यञ्जकता शब्द और अर्थ इन दोनों में समान रूप से रहती है इसलिए शब्द की तरह अर्थ में भी काव्यत्व मानना चाहिए। यहाँ अलग कही बातों को समन्वित करके इन आस्वादवादियों का काव्यलक्षण इस रूप में रखा जा सकता है–

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति

आस्वादव्यञ्जकशब्दार्थमयत्वं काव्यत्वम्।

इस लक्षण को बनाने का सुपुष्ट आधार इसी से मिलती जुलती शब्दावली में ध्वन्यालोक में प्रदर्शित ध्वन्यभाववादियों का वह प्रसिद्धप्रस्थान वाला मत है जिसमें वे शब्द, अर्थ, गुण और अलंकार के बिना किसी भी काव्यप्रकार की कल्पना करने का दृढ़तापूर्वक प्रत्याख्यान कर रहे हैं वहाँ उन्होंने सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् इस रूप में काव्यलक्षण उपस्थित किया है[1]। वस्तुतः इन दोनों स्थलों में प्रयुक्त आस्वादव्यञ्जकत्व और सहृदयहृदयाह्लादित्व विशेषणों में कोई अन्तर नहीं है। इस कारण इनको पर्यायवाची शब्द माना जा सकता है।

वस्तुतः इस मत में शब्द और अर्थ दोनों की ही काव्यता स्वीकार की गई है। इन दोनों में ही काव्यता स्वीकार करनी भी चाहिए क्योंकि अकेला शब्द या अकेला अर्थ काव्य नहीं होता। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने भी शब्द अर्थ दोनों में ही काव्यत्व का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि रमणीयताविशिष्ट अकेला शब्द और अकेला अर्थ काव्य नहीं बन सकता।[2] इस प्रकार आस्वादाभि-व्यञ्जक शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य मानना सङ्गत है।

यहाँ आस्वाद शब्द का सम्बन्ध काव्य के आस्वाद के साथ है। रस, आह्लाद, आनन्द, सुख, चमत्कार आदि काव्यानन्द को अभिव्यक्त करने वाले ये सभी पद पर्यायवाची माने जा सकते हैं। इस कारण इस मत का सम्बन्ध भरत नाट्यशास्त्र में निरूपित विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पतिः तथा न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते के साथ है[3] । ध्वनिवादियों द्वारा अनुमोदित रस, अलङ्कार और वस्तु इन तीनों ध्वनिभेदों में भी यही आस्वाद पाया जाता है। अङ्गनाओं के विभिन्न अङ्गों में रहते हुए भी उनसे भिन्न होकर रहने वाले लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में रहने वाली शब्दार्थातिरिक्त जिस प्रतीयमान ध्वनि की ओर आचार्य

1. अन्ये ब्रूयुः नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः। सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत् सम्भवति।
ध्वन्यालोक 1,1 वृत्ति

2. न शब्दस्य रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं नाप्यर्थस्य।
वक्रोक्तिजीवित 1,7

3. नाट्यशास्त्र 6, 32 वृत्ति

आनन्दवर्धन ने इङ्गित किया है[1] उसके साथ इस आस्वाद का सीधा सम्बन्ध है। इसी आस्वाद (रसभाव रूप) अर्थतत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी उनकी अलौकिक और प्रतिभासमान प्रतिभा (अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा) के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है।[2]

आस्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यम् इस चण्डीदासकृत लक्षण का आस्वाद पद तथा इस लक्षण का आस्वाद पद एक ही है।[3] यह आस्वादवाद विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह के रसे सारश्चमत्कारः तथा उनके वाक्यं रसात्मकं काव्यम् के बहुत समीप है। अनलङ्कृती की व्याख्या करते हुए काव्यप्रकाशदर्पण में विश्वनाथ ने आस्वादात्मकं वाक्यं काव्यम् कहा है। यहाँ तो आस्वादपद का ही प्रयोग हुआ है।[4]

पण्डितराज जगन्नाथ की लोकोत्तर आह्लाद को प्राप्त कराने वाली रमणीयता तथा चमत्कृति दोनों पदों के अर्थ के साथ इस आस्वाद का अर्थसाम्य तथा भावसाम्य दोनों हैं।[5]

इस प्रकार ये प्रमुख आचार्य काव्य में आस्वाद की प्रधानता स्वीकार करते हैं। यह बात दूसरी है कि कुछ आचार्य इसकी स्थिति शब्द में प्रधान रूप से मानते हैं और कुछ आचार्य शब्द और अर्थ दोनों में इसकी तुल्य स्थिति को स्वीकार करते

---

1. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
   यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।
   ध्वन्यालोक 1,4
2. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
   अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।
   ध्वन्यालोक 1.6
3. काव्यप्रकाश 1,4 चण्डीदासकृत दीपिका टीका।
4. (क) रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
   तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
   तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।। साहित्यदर्पण 3,3 वृत्ति
   (ख) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। वही 1,3
   (ग) काव्यप्रकाश 1,4 दर्पणटीका।
5. (क) रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। रसगङ्गाधर 1,1 वृत्ति
   (ख) सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृतिः।
   सौन्दर्यञ्च चमत्कृत्याधायकत्वम् चमत्कृतिः आनन्दविशेषः।
   वही द्वितीय आनन उपमानिरूपणप्रकरण

हैं। वस्तुतः इस मत का सीधा सम्बन्ध रससम्प्रदाय और ध्वनिसम्प्रदाय से है। इन दोनों सिद्धान्तों को भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थकाव्यतावाद

गुण और अलङ्कार के विशेषणों से युक्त होने से आचार्य मम्मट का मत गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थकाव्यतावाद कहा जाता है।

आचार्य मम्मट ने काव्य का लक्षण इस प्रकार बताया है-

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।[1]

दोषों से रहित, गुणयुक्त और साधारणतः अलङ्कारसहित परन्तु कहीं कहीं अलङ्काररहित शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि काव्य कहलाती है।

मम्मटोत्तर युग के शताधिक काव्यप्रकाश के टीकाकारों और आचार्यों ने मम्मटोक्त काव्यलक्षण का खण्डन मण्डन किया है। इनमें से एक प्रमुख आचार्य विश्वनाथदेव ने अपने ग्रन्थ साहित्यसुधासिन्धु (निर्माणकाल 1592 ई.) के आरम्भ में चण्डीदास, विश्वनाथ और श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य द्वारा प्रस्तुत युक्तियों के आधार पर पहले मम्मटकृत काव्यलक्षण के प्रत्येक पद का खण्डन किया है। इसके बाद इन्होंने मम्मटकृत काव्यलक्षण में रखे हुए प्रत्येक पद की संगति प्रदर्शित की है। इस प्रकार इन्होंने मम्मटप्रतिपादित काव्यलक्षण का समर्थन करके इसकी प्रतिष्ठापना की है। इनके द्वारा किये गये इस विवेचन में मम्मटोत्तरयुग में किये गये काव्यलक्षण सम्बन्धी ऊहापोह एवं युक्ति प्रत्युक्तियों की झलक मिलती है।

शब्दार्थौ काव्यम् की संगति

आचार्य विश्वनाथदेव का कहना है-

सगुणौ इस विशेषण से शब्दार्थ में आस्वादव्यञ्जकता होनी चाहिए यह सिद्ध हो जाता है इसी कारण चण्डीदास ने आस्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यम् यह काव्यलक्षण स्वीकार किया है। ग्रन्थकार का कहना है कि चण्डीदास का यह काव्यलक्षण ठीक नहीं है। उनसे प्रश्न किया जा सकता है कि क्या आस्वादयुक्त अर्थ के बोधक पद काव्य कहलाते हैं? अथवा पदों से उपस्थापित अर्थ काव्य कहलाते हैं। यहाँ इन दोनों लक्षणों में से किसी एक के अनुकूल एकतरपक्षपातिनी

---

1. काव्यप्रकाश 1,4

युक्ति अर्थात् एक पक्ष को पुष्ट करने वाला तर्क नहीं होने से दोनों में ही काव्य का लक्षण घट जाता है। उक्त लक्षण मानने पर शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्य मानना पड़ जायेगा। कवे: कर्म काव्यम् यह समाख्या भी शब्द में काव्यत्व की विनिगमिका-एक पक्ष को पुष्ट करने वाली युक्ति नहीं है।[1]

समाख्या योगबलम् अर्थात् व्युत्पत्ति की शक्ति समाख्या कहलाती है। जहाँ व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ समाख्या होती है अथवा यौगिक: शब्द: समाख्या अर्थात् व्युत्पत्ति से अपने अर्थ को बोधित कराने वाला शब्द समाख्या कहलाता है। क्योंकि कामिनीमुख का चन्द्र के साथ तादात्म्य रूप अलौकिक अर्थ (कर्म) भी कवि के द्वारा ही निष्पन्न होता है। इसलिए यह काव्यलक्षण अर्थ में भी चला जाता है। क्योंकि कवे: कर्म काव्यम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार जैसे शब्द कवि का कर्म है उसी प्रकार अर्थ भी है। इस प्रकार अर्थ के भी कविनिर्वाह्य होने से उपर्युक्त समाख्या (पदसन्दर्भ: काव्यम्) इस काव्यलक्षण के लिए विनिगमक नहीं है।

और यदि शब्दार्थौ काव्यम् यह काव्यलक्षण माना जाये तो देवदत्त: प्रभव: में देवदत्तप्रभवत्व जाति की तरह शब्दार्थ में भी उसी प्रकार के शब्दार्थकाव्यत्व रूप जाति धर्म को स्वीकार करने पर उसमें साङ्कर्य की शङ्का हो जायेगी। अत: यह लक्षण दूषित है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि इस दशा में काव्य में काव्यत्व जाति न मानकर अखण्डोपाधि ही स्वीकार की जाती है। वास्तव में तो साङ्कर्यदोष के रसविघात में कारण न बनने से उसमें निर्दोषता ही आती है।

शब्दार्थौ काव्यम् इस काव्यलक्षण में काव्यत्व को जाति मानने पर जातिबाधक सङ्करदोष की प्राप्ति होती है। परन्तु यदि इसे जाति न मानकर अखण्डोपाधि माना जाये तो यह दोष हट जाता है। जैसे एक आकाश में अनेकों में रहने वाला जातिरूप धर्म नहीं रहता और उसमें एक आकाशत्व रूप अखण्डोपाधि धर्म रहता है उसी प्रकार अखण्डरूप में स्थित शब्दार्थ में एक ही काव्यत्व रूप अखण्डोपाधि रहती है।

नैयायिकों ने साङ्कर्य को जातिबाधक माना है परन्तु वैयाकरणों ने साङ्कर्य को सर्वत्र जातिबाधक नहीं माना है। यह बात वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा में स्पष्ट है। अत: काव्य में रहने वाले काव्यत्व धर्म को जाति मानने में भी कोई हानि नहीं है। इस प्रकार आचार्य मम्मट का शब्दार्थौ काव्यम् यह काव्यलक्षण युक्तियुक्त ही है।

---

1. सगुणावित्यनेन. ' ' ' विनिगमिका। साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति

2. अदोषौ शब्दार्थों की संगति

आचार्य विश्वनाथदेव का कहना है-

और शब्दार्थों के अदोषौ इस विशेषण से दोषसामान्याभाव या दोषविशेषाभाव रूप विकल्पों का अवसर ही नहीं है क्योंकि हमारे मत में दोषसामान्याभाव का ही लक्षण में प्रवेश होता है दोषविशेषाभाव का नहीं और दोषसामान्याभाव का लक्षण में प्रवेश होने से जो प्रविरलविषयत्व आता है वह हमें इष्ट ही है। क्योंकि यदि केवल एक पद भी निर्दोष हो तो उतने को ही काव्य कहा जा सकता है इसलिए कुछ पदों के सर्वथा दोषविनिर्मुक्त होने की स्थिति में काव्य की निर्विषयता नहीं होगी। अतः पूर्वपक्षी का यह कहना कि सर्वथा दोषरहित कोई काव्य सम्भव ही नहीं है असंगत है ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है। वस्तुतः कोई न कोई दोष तो काव्य में रहता ही है इसलिए सब दोषों का अभाव काव्य में नहीं रह सकता। इसलिए यहाँ दोषसामान्याभाव में ही तात्पर्य है दोषविशेषाभाव में नहीं।[1]

कुछ विद्वानों का कहना है कि अदोषौ इस पद से यह विवक्षा है कि शब्दार्थ में अर्थात् काव्य में स्फुटदोष नहीं होने चाहियें। यहाँ स्फुटदोष होने का अभिप्राय रसानुकूलशाब्दबोधप्रतिबन्धकत्व है अर्थात् जो रस के अनुरूप शाब्दबोध में बाधा को उपस्थित करे वह स्फुटदोष कहलाता है। इससे निराकाङ्क्ष और असाधु आदि दोषों में रहने वाले निराकाङ्क्षत्व और असाधुत्वादि विशेष धर्मों का ग्रहण होता है। शाब्दबोध में प्रतिबन्धक होने से रसविघातक इन दोषों को काव्य में नहीं रहने देना चाहिए।[2]

इसलिए प्रतिभाशाली कवियों का कोई ऐसा विशेष प्रकार (खास ढंग का अन्दाज़े बयां) है जो सामाजिकों को विस्मयविमुग्ध कर चित्रलिखित की भाँति स्थिर सा करके उन्हें दोषों को पकड़ने नहीं देता। अतः काव्य में स्फुटदोषराहित्य होना चाहिए भले ही छोटा मोटा दोष रह जाये ऐसा वे कहते हैं। अभिप्राय यह है कि कविगण अपनी वर्णनशैली से अपनी रचना को इतना अधिक हृदयावर्जक बना देते हैं कि उसे पढ़कर सामाजिक आनन्दमग्न हो जाता है और उसका उस रचना के दोषों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। उदाहरणार्थ निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम् इत्यादि श्लोक विलक्षण रूप से रसोद्बोधक है इसको पढ़ते ही पाठक आनन्द में डूब जाता है और उसका सारा ध्यान इसके शब्दों से ध्वनित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की ओर चला जाता है। यद्यपि इस श्लोक में विधेयाविमर्शदोष है क्योंकि पहले यहाँ उद्देश्य स्तनतटम्

1. न चादोषाविति · · · परिगृह्यन्ते। सहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति
2. अदोषाविल्यत्र-व्यर्थविशेषणत्वापत्तेः। वही 1,4 वृत्ति

को रखना चाहिए तदनन्तर विधेय निःशेषच्युतचन्दनम् को प्रयुक्त करना चाहिए। पर यहाँ इस नियम का उल्लङ्‌घन है तो भी रसविभोर पाठक की एक तो इस ओर दृष्टि जाती ही नहीं है यदि जाती भी है तो क्षणभर के लिए जाकर तुरन्त उस ओर से हट जाती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने भी कहा है–

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।

यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते।।[1]

अव्युत्पत्ति (पौर्वापर्यविवेचनादिरूपा व्युत्पत्ति के अभाव) के कारण होने वाला दोष कवि की शक्ति के बल से छिप जाता है। परन्तु कवि की अशक्ति (कवि की नवनवोन्मेषशालिनी वर्णनीय वस्तु का नये नये ढंग से वर्णन कर सकने की शक्ति प्रतिभा होती है। इस शक्ति के अभाव) के कारण जो दोष होता है वह तुरन्त प्रतीत हो जाता है।

और दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं– जिस अंश में दोष होता है वह अकाव्य और जिस अंश में दोष का अभाव होता है वह काव्य होता है। जैसे एक ही ज्ञान प्रमा (यथार्थ) और अप्रमा (अयथार्थ) दोनों रूपों में होता है वैसे ही एक पद्य काव्य और अकाव्य दोनों हो जायेगा। इसलिए यहाँ दोषसामान्याभाव को ही काव्यलक्षण में सम्मिलित करना चाहिए।

इन विद्वानों का यह कहना है–लक्षण में अदोषौ पद का दोषसामान्याभाव ही अर्थ है। यदि सकल दोषों का अभाव पूरे पद्य में सम्भव नहीं है तो एक ही पद्य उसी प्रकार काव्य और अकाव्य दोनों हो सकता है जिस प्रकार एक ही ज्ञान प्रमा और अप्रमा दोनों होता है। जैसे चित्रतुरगन्याय से नट में रामोऽयम् इस रूप में होने वाली प्रतीति दृष्टिभेद से प्रमा और अप्रमा दोनों है वैसे ही न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः इत्यादि श्लोक में जहाँ विधेयाविमर्श दोष है वह अकाव्य है और जहाँ ध्वन्यंश है वहाँ काव्य है इस प्रकार यह श्लोक काव्याकाव्य दोनों है। अतः अदोषौ का अर्थ दोषविशेषाभाव न होकर दोषसामान्याभाव ही है। इस प्रकार यहाँ अदोषौ पद में नञ् का अर्थ अभाव है और दोष शब्द से सकल दोषों का ग्रहण होता है इसलिए सकलदोष अर्थात् दोषसामान्य का अभाव अर्थ करना संगत है।[2]

1. ध्वन्यालोक 3,6 वृत्ति
2. परे तु यदंशे · · · इत्याहुः। साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति

3. सगुणौ (शब्दार्थौ) की संगति

आचार्य विश्वनाथदेव का कहना है–

गुणान्वितावित्यत्र गुणव्यञ्जकावित्यर्थः।[1]

अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ सालङ्कारौ गुणान्वितौ में आये हुए गुणान्वितौ इस विशेषण में गुणव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य होते हैं यह अर्थ निहित है।

गुण तो रस के धर्म हैं इसलिए गुणयुक्त रस ही हो सकता है शब्द और अर्थ नहीं। इसलिए शब्दार्थौ के लिए गुणान्वितौ यह विशेषण अनुपपन्न हो जाता है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि गुण साक्षात्सम्बन्ध से रस में ही रहते हैं परन्तु वे स्वाश्रयाभिव्यञ्जकत्वरूप परम्परासम्बन्ध से शब्द और अर्थ में भी रहते हैं इसलिए गुणान्वितौ यह विशेषण संगत है।

4. अनलङ्‌कृती पुनः क्वापि की सङ्गति

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्‌कृती पुनः क्वापि इस काव्यलक्षण को बताया है। लक्षण में प्रयुक्त अनलङ्‌कृती पुनः क्वापि–विशेषण की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है–

क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।[2]

क्वापि इति अर्थात्–कहीं कहीं अलङ्कार से रहित भी शब्द और अर्थ काव्य होते हैं इस कथन को ग्रन्थकार इसलिए कहता है कि काव्य में सब जगह शब्द और अर्थ अलङ्कार से युक्त होने चाहिएँ परन्तु कहीं स्पष्ट (उपमादिविशेष) अलङ्कार न हों तो उनके अभाव में भी (वहाँ सामान्य अलङ्कार होने से) काव्यत्व की हानि नहीं है।

इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण आचार्य विश्वनाथदेव ने इस प्रकार किया है–

अत्र च विशेषालङ्कारविरहेऽपि सामान्यालङ्कारसत्त्वान्न काव्यत्वहानिरित्यवधेयम्।[3] और (काव्य में किसी उपमादि) विशेष अलङ्कार के न होने पर भी (वक्रोक्ति) जैसे सामान्य–सब में रहने वाले अलङ्कार के होने पर काव्य में (काव्यत्व को मानने पर) किसी प्रकार की क्षति नहीं होती ऐसा समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति
2. काव्यप्रकाश 1,4 वृत्ति
3. वही 1,4 वृत्ति

आचार्य मम्मट और आचार्य विश्वनाथदेव यह मानते हैं कि काव्य में उपमादि विशेषालङ्कारों की स्थिति होनी ही चाहिए परन्तु यदि इन विशेषालङ्कारों का किसी विशेष स्थान पर समावेश न हो और वहाँ पर वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) जैसा सामान्यालङ्कार हो तो वहाँ काव्यत्व बना रहेगा। इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है:-

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा

स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।

सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ

रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥[1]

इस श्लोक के विषय में उन्होंने कहा है-अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः। यहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है। स्पष्ट अलङ्कार का यहाँ उपमादि विशेष अलङ्कार अर्थ लेना चाहिए। इस स्फुटालङ्कार के विरह में जब काव्य में वक्रोक्ति जैसा सामान्य अलङ्कार होता है तो भी उसे काव्य माना जा सकता है।

प्रस्तुत उदाहरण में अनवीनत्व रूप अनुत्कण्ठा की कारणसामग्री के विद्यमान होने पर भी अनुत्कण्ठा रूपी कार्य नहीं पैदा हो रहा है। इसके विपरीत चेतः समुत्कण्ठते अर्थात् चित्त में मिलने की इच्छा उत्पन्न हो रही है—इस रूप में उत्कण्ठा रूपी कार्य उत्पन्न हो रहा है। यहाँ कवि ने मनोवैज्ञानिक ढंग से मन की विचित्र स्थिति का विचित्र वर्णन वक्रोक्ति का आश्रय लेकर किया है।

आचार्य विश्वनाथदेव ने भी आचार्य मम्मट और श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्यप्रतिपादित सिद्धान्त का अनुकरण करते हुए निम्नलिखित दो श्लोकों में वक्रोक्ति नामक सामान्य अलङ्कार की स्थिति बताई है—

आपृच्छस्व सखी र्नमस्कुरु गुरून् वन्दस्व बन्धुस्त्रियः

कावेरीतटसन्निविष्टनयने मुग्धे किमुत्ताम्यसि।

---

1. काव्यप्रकाश 1,1

आस्ते पुत्रि समीप एव सदनादेलालतालिङ्गित-
न्यञ्चत्तीरतमालदन्तुरदरी तत्रापि गोदावरी।।

यथा वा-

अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं तापः सखीष्वाहितो
न्यस्तं दैन्यमशेषतः परिजने चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता।
अद्य श्वः खलु निर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
विस्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया।।[1]

यहाँ पहले श्लोक में पीहर और ससुराल दोनों में असम्बन्ध होते हुए भी एकरूपता रूप सम्बन्ध बताया है। ससुराल और पीहर दोनों घरों को सुन्दर कहा है। इस चमत्कारपूर्ण उक्ति से विदा का दृश्य सामने आ जाता है। इस प्रकार यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप असम्बन्धातिशयोक्तिरूप वक्रोक्ति है। दूसरे श्लोक में भी सम्प्रदान क्रिया न होने पर भी सम्प्रदान की क्रिया की कल्पना है। इस कारण वहाँ भी असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति रूप वक्रोक्ति है।

इन दो श्लोकों में वक्रोक्ति है इस तथ्य को आचार्य विश्वनाथदेव ने इस प्रकार प्रकट किया है-

अत्रोभयत्र वक्रोक्तिःकाव्यजीवितं तस्या एव पुरःस्फूर्तिकत्वात्। प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायात्। अत एवोक्तम्-

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो ह्यनया विना।।
वक्रोक्तिश्च चमत्कारकारिण्युक्तिः।[2]

इन दोनों श्लोकों में काव्य की आत्मभूत वक्रोक्ति (नामक सामान्य अलङ्कार) है क्योंकि यही यहाँ सामने आकर स्फुरित अर्थात् प्रकट हो रही है यद्यपि यहाँ वक्रोक्ति के साथ साथ वात्सल्य और विप्रलम्भ शृङ्गार इन दोनों रसों की भी स्थिति है। परन्तु यहाँ प्रधानता वक्रोक्ति की है इसलिए प्रधानता के आधार पर ही नाम पड़ा करते हैं इस नियम से यहाँ वक्रोक्ति को ही मानना चाहिए इसलिए कहा है सारे स्थानों पर यह प्रसिद्ध वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) रहा करती है। इससे अर्थ में

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,1-2
2. वही 1,4 वृत्ति

विभावन अर्थात् चमत्कार आ जाता है। कवि को इसमें (काव्य के भीतर इसको रखने में) प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि ऐसा कौन सा अलङ्कार है जो इसके बिना होता है और चमत्कार को उत्पन्न करने वाली उक्ति का नाम ही वक्रोक्ति है। उपर्युक्त दोनों श्लोकों में यद्यपि कोई विशेष अलङ्कार नहीं दिखाई पड़ता तथापि सामान्य रूप से परिलक्षित वक्रोक्ति अर्थात् अतिशयोक्ति की स्थिति सर्वथा स्पष्ट है और वक्रोक्ति का अर्थ है चमत्कार भरी उक्ति और जो चमत्कारकारी होता है उसी का प्राधान्य सिद्ध होता है और उसी का व्यपदेश अर्थात् नाम दिया जाता है।

काव्य में दो प्रकार का सौन्दर्य पाया जाता है : 1. वाच्यसौन्दर्य और 2. व्यङ्ग्य सौन्दर्य। वाच्यसौन्दर्य के अन्तर्गत अलङ्कार आते हैं और व्यङ्ग्यसौन्दर्य के अन्तर्गत रसध्वनि आती है। वाच्यसौन्दर्य बाह्य वस्तु है और व्यङ्ग्यसौन्दर्य आन्तरिक। सामाजिक की दृष्टि पहले बाह्यसौन्दर्य अर्थात् अलङ्कारों पर पड़ती है और गहरे विवेचन के बाद ही व्यङ्ग्यसौन्दर्य अर्थात् रसध्वनि पर पड़ती है। यहाँ जो वक्रोक्ति रूप सामान्य अलङ्कार है वही हमारे सामने पहले आता है और चमत्कार इसी में रहता है। यहाँ वक्रोक्तिगत जो स्पष्ट चारुत्व है उसी को लेकर वक्रोक्ति की प्रधानता मानी जाती है। यहाँ वाच्यार्थ में अधिक चारुता है। जिसमें अधिक चमत्कार हो उसी का नाम रखा जाता है। इस कारण इन दोनों उदाहरणों में वक्रोक्ति नामक सामान्य अलङ्कार है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने भी वाच्य और व्यङ्ग्य में चारुत्व के आधार पर प्राधान्य और अप्राधान्य माना है।[1]

अनलङ्कृती पुनः क्वापि कहने का अभिप्राय यह है और फिर कहीं कहीं स्फुटालङ्कार से रहित भी अर्थात् सर्वत्र विशेषालङ्कार से युक्त और कहीं कहीं अपवाद रूप में विशेषालङ्कार के राहित्य में भी सामान्यालङ्कार होने पर काव्यत्व स्वीकार कर लेना चाहिए। मन में यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन काव्यों में कहीं विशेषालङ्कार नहीं भी होता है वहाँ भी वक्रोक्ति जैसे सामान्य अलङ्कार की स्थिति अक्षुण्ण रहती है। यह व्याख्या इसलिए अपेक्षित है कि आचार्य मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में परम्परागत समस्त काव्यलक्षणों के समन्वय की सफल चेष्टा की है। फलतः उनके काव्यलक्षण में रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य सभी सम्प्रदायों के काव्यसिद्धान्तों की सुन्दर सङ्घटना (समन्वय) है। यह काव्यलक्षण अलङ्कार, ध्वनि और रसादि अनेक तत्त्वों को अपने में समेटने के कारण विचित्र रूप होता हुआ भी अभिन्न (एक) रूप प्रतीत होता है। जब उन्होंने अपने

1. चारुत्वनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ध्वन्यालोक 1,13 वृत्ति

काव्यलक्षण में सभी सम्प्रदायों का समन्वय किया है तो ऐसी स्थिति में वे अलङ्कारसम्प्रदाय की कैसे उपेक्षा कर सकते थे? इसी अलङ्कारसम्प्रदाय को ग्रहण करने के लिए उन्होंने अनलङ्कृती पुनः क्वापि यह अन्तिम विशेषण दिया हुआ है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि आचार्य मम्मट सालङ्कारशब्दार्थकाव्यतावाद को स्वीकार कर रहे हैं। अदोषौ कहकर औचित्य, सगुणौ कहकर ध्वनि, रस, रीति और वक्रोक्ति तथा अनलङ्कृती शब्दार्थौ कहकर अलङ्कारसम्प्रदाय को महत्त्व दिया है। किन्तु अलङ्कारों के साथ साथ उन्होंने सगुणौ कहकर रस की स्थिति को भी स्वीकार किया है क्योंकि गुण और रस का अविनाभाव सम्बन्ध है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्य में अलङ्कारों की सत्ता क्यों आवश्यक हैं? इसके समाधान के लिए हमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की सहायता लेनी पड़ेगी। किसी भी भाषा की किसी भी कविता को पढ़कर उसका जो शब्दगत और अर्थगत बाह्यसौन्दर्य होता है हम उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। सबसे पहले हमें यही बाह्यसौन्दर्य अपनी ओर आकर्षित करता है। इन्हीं बाह्यतत्त्वों का नाम शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार है। बाह्यसौन्दर्य की प्रतीति के बाद ही रस, ध्वनि आदिगत आन्तरिकसौन्दर्य का आस्वाद होता है। जिस प्रकार सुन्दर नारी के बाह्यसौन्दर्य के लिए सुन्दर अङ्गरचना एवं शोभाकर अलङ्कारों की आवश्यकता होती है और आन्तरिक सौन्दर्य के लिए दया, दाक्षिण्य, शिक्षादि आन्तरिक गुणों की भी अपेक्षा रहती है और वह हाव (शारीरिक चेष्टाओं) भाव (मानसिक चेष्टाओं) से युक्त होकर आकर्षण का केन्द्र बनती है। उसी प्रकार सहृदयहृदयसंवेद्या कविता वनिता के लिए जहाँ बाह्य सौन्दर्याधायक अलङ्कार आवश्यक हैं वहाँ आन्तरिक सौन्दर्याधायक गुण और रस भी अपेक्षित हैं। इस प्रकार आचार्य मम्मट और उनके अनुयायी आचार्य विश्वनाथदेव दोनों ही कविता में गुणों की तरह अलङ्कारों की आवश्यक और अनिवार्य स्थिति को मानते हैं।

शब्दार्थकाव्यतावादः काव्यलक्षण, पूर्वपक्ष एवं समाधान

शब्दार्थकाव्यतावादः काव्यलक्षण

आचार्य भामह ने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है- शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्[1] शब्द और अर्थ का साहित्य (सहभाव) काव्य कहलाता है। यहाँ शब्दार्थसाहित्य के सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ है। आगे चलकर आचार्य मम्मट के

1. काव्यालङ्कार 1,16

द्वारा इसी लक्षण को विस्तृत एवं परिनिष्ठित रूप प्रदान किया गया है उनका काव्यलक्षण इस प्रकार है–

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।[1]

दोषों से रहित, गुणयुक्त और सामान्यतया अलङ्कारसहित परन्तु कहीं कहीं अलङ्काररहित शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं। यहाँ इन्होंने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना है तथा इन दोनों को इस काव्यलक्षण में समान महत्त्व दिया है। शब्दश्च अर्थश्च शब्दार्थौ इस रूप में यह उभयपदाप्रधान द्वन्द्वसमास है जो पाणिनि की अष्टाध्यायी के चार्थे द्वन्द्वः इस सूत्र से निष्पन्न होता है। द्वन्द्वसमास में दोनों पदों का एक जैसा स्थान और महत्त्व होता है। इस समास में रहने वाले दोनों पद स्वतन्त्र होते हैं। काव्य में जितनी उपयोगिता शब्द की होती है उतनी ही अर्थ की होती है। इसके विपरीत पण्डितराजजगन्नाथ के द्वारा बताये गये–रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्[2]–लोकोत्तर आह्लाद के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा जाता है– इस काव्यलक्षण में अर्थ को शब्द का विशेषण बताया है और शब्द विशेष्य है। इस कारण यहाँ शब्द की प्रधानता और अर्थ की गौणता है। शब्द की प्रधानता पर आधारित यह शब्दप्राधान्यप्रस्थान है। शब्दार्थसाहित्यप्रस्थान को शब्दार्थकाव्यतावाद और शब्दप्राधान्यप्रस्थान को शब्दकाव्यतावाद नाम दिया जाता है। शब्द और अर्थ जाति और व्यक्ति की तरह मिलकर प्रतिपाद्य विशेषार्थ को बताते हैं। कवि के मुख में शब्द रहता है और अर्थ संसार में रहता है। ये दोनों मिलकर आह्लादजनक होते हैं अकेले अकेले नहीं। दोनों ही मतों में शब्द और अर्थ दोनों के द्वारा काव्यार्थ का ज्ञान होता है किन्तु शब्दार्थकाव्यतावादी शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्त्व देते हैं। इसके विपरीत शब्दकाव्यतावादी शब्द को अधिक महत्त्वशाली मानते हैं। वस्तुतः शब्द और अर्थ जाति और व्यक्ति की तरह मिलकर अर्थ बताते हैं।[3] यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि शब्दकाव्यतावादी भी अर्थविहीन कविता को काव्य नहीं मानते। शब्द और अर्थ दोनों की काव्यता इसलिए स्वीकार की जाती है क्योंकि यदि अकेले शब्द में काव्यता मानी जाए तो समुद्रघोषादि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इसीलिए समुद्रघोष को कोई भी व्यक्ति काव्य नहीं मानता। केवल अर्थ में यदि काव्य माना

---

1. काव्यप्रकाश 1,4
2. रसगङ्गाधर 1,1
3. शब्दार्थौ मिलितौ जातिव्यक्तिवदन्योन्याव्यभिचारित्वेन। काव्यप्रकाश 1,4 माणिक्यचन्द्रकृतसङ्केतटीका।

जाये तो द्रव्यादि में अतिव्याप्ति होगी। यदि शब्दार्थमात्र में काव्यता मानें तो दोषदूषित काव्य को भी काव्य मानना पड़ेगा। च्युतसंस्कृति (व्याकरणहीनता) जैसे दोषों से दूषित काव्य को काव्य नहीं माना जाता। माधुर्यादिगुणों से रहित शब्दार्थ काव्य न माने जायें इसलिए सगुणौ विशेषण को रखा गया है। गामानय जैसे अलङ्काररहित शब्दार्थों को काव्य से दूर रखने के लिए शब्दार्थों के साथ अनलङ्कृती पुनः क्वापि इस विशेषण का प्रयोग करना पड़ा। साथ ही क्वापीत्यनेन सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्स्फुटा- लङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानि यह अर्थ बताया गया है।[1] इस प्रकार मम्मट के काव्यलक्षण में शब्दार्थों के लिये प्रयुक्त अदोषौ आदि सभी विशेषणों की सार्थकता समझी जा सकती है।

काव्यप्रकाश की सारबोधिनी टीका के रचयिता श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य का कहना है कि शब्दार्थौ पद में शब्द को पहले और अर्थ को बाद में इसलिए रखा है क्योंकि शब्द का पहले ज्ञान होता है और अर्थ का उसके बाद बोध होता है।[2] सुधासागरटीकाकार भीमसेन दीक्षित का भी कहना है कि शब्दार्थौ में शब्द का पौर्वापर्य इन दोनों की पूर्वता और अपरता का कारण है। काव्य में रहने वाला काव्यत्व धर्म दोषाभाव एवं गुणालङ्कारों से विशिष्ट शब्द और अर्थ इन दोनों में व्याप्त रहता है। इन विशेषताओं से युक्त शब्दार्थों के ज्ञान से ही रस की प्रतीति होती है। लोक में काणत्वादिदोषों के अभाव और पाण्डित्यसौन्दर्यादि गुणों और वस्त्रालङ्कारादि पहनावे से युक्त ही व्यक्ति को देखने पर चित्त चमत्कृत होता है न कि इनमें से किसी एक के अभाव में चमत्कार हो सकता है। इसीलिए यहाँ दोषाभावादि तीनों विशेषणों को रखा गया है।[3]

आचार्य भामह द्वारा प्रवर्तित तथा आचार्य मम्मट द्वारा समर्थित यह शब्दार्थकाव्यतावाद उत्तरवर्ती अधिकांश आचार्यों को मान्य रहा है। कुछ ही आचार्यों ने इसका खण्डन और विरोध किया है। वस्तुतः सत्कवि और विद्वान् दोनों को शब्द और अर्थ दोनों की ही समान रूप से अपेक्षा रहती है।[4]

---

1. काव्यप्रकाश 1.4 नरहरिसरस्वतीतीर्थविरचितबालचित्तानुरञ्जिनी टीका।
2. काव्यप्रकाश 1,4 सारबोधिनीटीका।
3. काव्यप्रकाश 1,4 सुधासागरटीका।
4. शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। शिशुपालवध 2, 86

पूर्वपक्ष एवं समाधान

शब्दप्राधान्यप्रस्थान (शब्दकाव्यतावाद) की ओर से शब्दार्थसाहित्यप्रस्थान (शब्दार्थकाव्यतावाद) पर लोकव्यवहारविरुद्धता, जातिसाङ्कर्य एवं समाख्या के आधार पर आक्षेप किये जा रहे हैं जिनका समाधान भी विभिन्न आचार्यों तथा काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने किया है। प्रमुख आक्षेप और उनके समाधान इस प्रकार हैं-

1. लोकव्यवहारविरुद्धता

शब्दार्थौ काव्यम्– शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि काव्य होती है यह मत मानने पर शब्द और अर्थ में काव्यत्व की प्रत्येकसमाप्यवृत्तिता स्वीकार करनी पड़ेगी। काव्यत्वधर्म की इन दोनों तत्त्वों में अलग अलग सत्ता माननी पड़ेगी। वह धर्म जो किसी वर्ग के प्रत्येक पदार्थ में पूर्ण रूप में रहता है प्रत्येक परिसमाप्यवृत्ति कहलाता है। जैसे घट में रहने वाला घटत्व धर्म प्रत्येक घट में पूरी तरह रहता है वैसे ही शब्द में शब्दकाव्यत्व और अर्थ में अर्थकाव्यत्व यह दो इतरनिरपेक्ष अलग अलग धर्म रहने लगेंगे। किन्तु लोकव्यवहार में केवल शब्द और केवल अर्थ में काव्य का अलग अलग प्रयोग देखने में नही आता। एक ही पद्य के लिए यह शब्दकाव्य भी है और अर्थकाव्य भी ऐसा नहीं कहा जाता। यदि ऐसा प्रयोग करने लग जायें तो एक स्थान पर दो काव्य मानने पड़ जायेंगे। एक ही पद्य में दो काव्य मानना अनुभवविरुद्ध है। इसलिए शब्द में पृथक् शब्दकाव्यत्व और अर्थ में पृथक् अर्थकाव्यत्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि केवल शब्द को ही काव्य माना जाये तो इस प्रकार की विसङ्गति नहीं आयेगी। इसके अतिरिक्त काव्यं शृणोति और काव्यं पठति–काव्य को सुनता है और काव्य को पढ़ता है इत्यादि प्रयोग शब्दकाव्यत्व को सिद्ध करते हैं। क्योंकि श्रवणक्रिया और पठनक्रिया शब्द की ही होती है इसलिए शब्द को ही काव्य मानना चाहिए।

शब्दकाव्यतावाद के समर्थकों की ओर से किया गया यह आक्षेप निराधार है क्योंकि शब्दार्थकाव्यतावाद के किसी भी समर्थक ने कहीं नहीं लिखा है कि शब्द में पृथक् शब्दकाव्यत्व रहता है और अर्थ में पृथक् अर्थकाव्यत्व रहता है। इसके विपरीत शब्दार्थकाव्यतावादी आचार्य इन दोनों की समष्टि में ही काव्य मानते हैं। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में कहा है–न तो रमणीयताविशिष्ट केवल शब्द में काव्यत्व रहता है और न ही रमणीयताविशिष्ट केवल अर्थ में काव्यत्व रहता है

अपितु इन दोनों की समष्टि में ही काव्यत्व रहता है (वक्रोक्तिजीवित 1,7)। रही काव्यं शृणोति आदि प्रयोगों की बात काव्यं जानाति काव्यं वेद --काव्य को जानता है और काव्य को समझता है जैसे प्रयोग शब्दार्थ काव्यत्व को सिद्ध करते हैं क्योंकि ज्ञान क्रिया शब्द के अर्थ में रहती है।

2. जातिसाङ्कर्य

शब्दार्थौ काव्यम्-शब्द और अर्थ दोनों काव्य हैं- यहाँ शब्द और अर्थ दोनों के समुदाय में व्याप्त होकर काव्यत्व उभयनिष्ठ जातिधर्म है। जैसे देवदत्तः प्रभवः (देवदत्त पिता है) इस वाक्य में उभयनिष्ठ देवदत्तप्रभवत्व धर्म सङ्करदोष से दूषित होने के कारण अवच्छेदक (जातिधर्म) नहीं बन सकता वैसे ही शब्दार्थकाव्यत्व भी सङ्करदोष आ जाने से शब्दार्थ की समष्टि रूप शब्दार्थकाव्य का अवच्छेदक नहीं बन सकता। देवदत्त पदार्थ में देवदत्तत्वजाति और प्रभव पदार्थ में प्रभवत्व जाति है। इन जातिधर्मों का परस्पर अत्यन्ताभाव है अर्थात् देवदत्त में प्रभवत्व नहीं है और प्रभव में देवदत्तत्व नहीं है। परन्तु इस वाक्य से देवदत्ताभिन्नः प्रभवः इस अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार शब्दार्थ की समष्टि में काव्य मानने पर शब्दत्व, अर्थत्व और काव्यत्व इन तीन जातियों का सङ्कर हो जाता है। सङ्करदोष की प्राप्ति होने से यहां शुद्ध रूप में काव्यत्व यह अवच्छेदक नहीं रह पाता। एक पदार्थ में दो जातियाँ नहीं रहा करतीं। यदि उसमें दो जातियाँ आ जाती हैं तो सङ्करदोष आ जाता है। इस कारण साङ्कर्यदोष से दूषित होने से शब्दार्थकाव्यतावाद मान्य नहीं हो सकता।

शब्दार्थकाव्यतावादियों की ओर से इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि शब्दार्थौ काव्यम् अर्थात् शब्दार्थ की समष्टि में काव्य मानने पर यदि साङ्कर्यदोष है तो यह शब्दः काव्यम् मानने पर भी आयेगा। क्योंकि शब्द में शब्दत्व जाति और काव्य में काव्यत्व जाति रहती है। शब्द में शब्दत्व है काव्यत्व नहीं और काव्य में काव्यत्व है शब्दत्व नहीं है। अतः दो विरोधी धर्मों का एकत्र समावेश होने से शब्दकाव्यतावाद में भी साङ्कर्यदोष आ जाता है। इस प्रकार यह साङ्कर्यदोष दोनों ही पक्षों में आ जाता है। वास्तव में शब्द और अर्थ दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है। जहाँ शब्द की प्रधानता होती है वहाँ अर्थ गौण हो जाता है। शब्द, अर्थ और काव्य इन तीनों में जातिधर्म की कल्पना ही नहीं करनी चाहिए। विशेष रूप से काव्य में काव्यत्व रूप जाति न रहकर अखण्डोपाधि रूप धर्म रहता है। ऐसा मानने पर सङ्करदोष हट जाता हैं। इन दोनों में यह अन्तर है कि जाति नित्य होती है और अनेक व्यक्तियों में अनुगत एकाकार रूप से समवायसम्बन्ध से रहती है परन्तु उपाधि नित्य

होने पर भी एक ही धर्मी में स्वरूपसम्बन्ध से रहती है। जैसे एक आकाश में अनेकों में रहने वाला जातिरूप धर्म नहीं रहता और उसमें एक आकाशत्व रूप उपाधिधर्म रहता है वैसे ही शब्दार्थ में एक ही काव्यत्व रूप उपाधि धर्म रहता है। काव्यशास्त्र में रसास्वादप्रतिबन्धक को ही दोष कहा जाता है परन्तु सङ्कर रसप्रतीति का प्रतिबन्धक नहीं होता अत: उसके रहते हुए भी काव्य में दोष नहीं होता इस प्रकार काव्य में काव्यत्व जाति मानने पर भी कोई दोष नहीं है।

3. समाख्या

समाख्या शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति है। कवे: कर्म काव्यम्–कवि की रचना काव्य कहलाती है। कवि शब्दों का ही निर्माण करता है अर्थों को नहीं बनाता। कवि जिस पदरचना को बनाता है वही काव्य है। कामिनी, चन्द्र, चन्द्रिका, आदि का निर्माण ब्रह्मा करता है कवि नहीं। इस आधार पर काव्य की शब्दनिष्ठता सिद्ध होती है। इसलिए रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम् अथवा वाक्यं रसात्मकं काव्यम् द्वारा प्रतिपादित शब्दकाव्यतावाद ही समीचीन प्रतीत होता है।

शब्दार्थकाव्यतावादियों का कहना है कि शब्दार्थ की समष्टि को ही काव्य मानना सङ्गत है। क्योंकि कवि केवल शब्दों का ही निर्माण नहीं करता वह अर्थों को भी बनाता है। वस्तुत: कवि घटनिर्माण करने वाले कुम्हार की तरह स्वयं शब्दों को नहीं बनाता। वह तो पदों का गुम्फनमात्र करता हैं। जैसे मालाकार अन्य स्थानों से सूत्र और पुष्पों को लाकर उन्हें गूंथ कर माला बना देता है वैसे ही कवि लोक में पहले से प्रचलित शब्दों को अपने काव्य में एकत्र करके सुन्दर रूप में संवार कर रख देता है। इतने ही अंश में वह काव्य के पदों का निर्माता है। वह मुखं चन्द्र: जैसे वाक्यों का प्रयोग करके कामिनीमुख का चन्द्रमा के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित करके मुखरूपी चन्द्रमा इस अलौकिक अर्थ का निर्माण करता है। ब्रह्मा के द्वारा चन्द्रमा जैसे लौकिक पदार्थ ही बनाये जाते हैं। कविकल्पनाप्रसूत अर्थ अलौकिक होते हैं। उदाहरणार्थ–

मृगतृष्णाम्भसि स्नात: खपुष्पकृतशेखर:।

एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धर:।।

मृगतृष्णा रूपी जल में नहाया हुआ, आकाशपुष्प से अलंकृत तथा खरगोश के सींगों के धनुष को धारण करने वाला यह बांझ स्त्री का पुत्र जा रहा है। इस वाक्य में सभी

वस्तुयें कल्पित हैं। ऐसे कल्पनाप्रसूत अर्थों में भी कविकर्मता रहती है। यह शब्द और अर्थ दोनों में समान रूप से विद्यमान है। सार्थक पदसमूह ही कवि की रचना माना जाता है निरर्थक पदसमूह नहीं।

इस प्रकार लोकव्यवहार, जातिसाङ्कर्य तथा समाख्या के आधार पर किये गए आक्षेपों का समाधान शब्दार्थकाव्यतावादियों ने अपने अपने ग्रन्थों में किया है। भारतीय काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्य शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य मानते हैं।

तृतीय अध्याय

काव्यशरीरसम्बन्धी नूतन अवधारणाएँ

शब्दकाव्यतावाद एवं शब्दार्थकाव्यतावाद

मम्मटोत्तरयुग में 17वीं शताब्दी के प्रमुख आचार्य पण्डितराजजगन्नाथ ने शब्दकाव्यतावाद (शब्दप्राधान्यप्रस्थान) का स्पष्ट एवं सशक्त रूप में प्रतिपादन किया है और अपने पूर्ववर्ती मम्मट एवं विश्वनाथ के बताये हुए काव्यलक्षणों का खण्डन भी किया है। यद्यपि जगन्नाथोत्तरवर्ती नागेशभट्ट आदि टीकाकारों ने उनके मत से असहमति जताई है फिर भी उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का महत्त्व कम नहीं हुआ है। पण्डितराज का शब्दकाव्यतावाद एवं मम्मट का शब्दार्थकाव्यतावाद दोनों ही काव्यशास्त्र में मान्यताप्राप्त सिद्धान्त हैं। वस्तुतः काव्यास्वाद में शब्द और अर्थ दोनों की ही समान रूप से उपयोगिता है। रसचर्वणा के समय शब्दों के अर्थों का भी युगपद् ज्ञान हो रहा होता है। किसी एक के भी अभाव में आनन्दानुभूति में बाधा उपस्थित हो जाती है।

काव्यशरीरसम्बन्धी ये दोनों ही वाद परस्पर सामञ्जस्य रखते हैं। विश्वनाथ ने वाक्य को काव्य माना है। उनका वाक्य शब्द में अन्तर्भूत हो जाता है इस कारण उनकी गणना शब्दकाव्यतावादी आचार्यों में हो जाती है। वे रसवादी आचार्य हैं। इस कारण उन्होंने गुणों और अलङ्कारों को काव्य में उतना महत्त्व नही दिया है जितना उनके पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट ने उनको अपने काव्यलक्षण में रखकर प्रदान किया है। आचार्य विश्वनाथदेव ने अपने पहले काव्यलक्षण में तो पूर्ववर्ती आचार्य विश्वनाथ के मत का ही अनुमोदन किया है और वे गुणों और अलङ्कारों को रस की अपेक्षा कम महत्त्व प्रदान करते हैं। किन्तु दूसरे काव्यलक्षण में वे मम्मट के मत का अनुसरण करते हुए गुणों और अलङ्कारों को भी रस के बराबर महत्त्व

देते हैं। यहाँ इन विचारों को निम्नलिखित तीन शीर्षकों में विभाजित किया है-

1. शब्दकाव्यतावाद तथा शब्दार्थकाव्यतावाद में सामञ्जस्य।
2. आचार्य विश्वनाथदेवप्रतिपादित शब्दकाव्यतावाद।
3. गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थकाव्यतावाद एवं काव्य में अलङ्कारों का स्थान।

शब्दकाव्यतावाद तथा शब्दार्थकाव्यतावाद में सामञ्जस्य

यहाँ शब्दकाव्यतावाद के लिए शब्दप्राधान्यप्रस्थान तथा शब्दार्थकाव्यतावाद के लिए शब्दार्थसाहित्यप्रस्थान शब्दों का प्रयोग किया गया है।

शब्दप्राधान्यप्रस्थान के प्रतिनिधि सिद्धान्त के रूप में पण्डितराजजगन्नाथ के द्वारा प्रतिपादित इस काव्यलक्षण को लिया जा सकता है-

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।[1]

रमंणीय अर्थात् लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करने वाले अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं। इस लक्षण में अर्थप्रतिपादकः शब्दः कहकर उन्होंने अर्थ को विशेषण रखा है और शब्द को विशेष्य। इस प्रकार अर्थ को गौण स्थान प्रदान किया है और शब्द को प्रधान। शब्द को अर्थ की अपेक्षा ऊँचा स्थान देने वाले चण्डीदास, कविराज विश्वनाथ और पण्डितराजजगन्नाथ आदि आचार्यों के काव्यलक्षण शब्दप्राधान्यप्रस्थान के अन्तर्गत आते हैं।

शब्दार्थसाहित्यप्रस्थान के प्रतिनिधिसिद्धान्त के रूप में आचार्य मम्मट प्रतिपादित निम्नलिखित काव्यलक्षण को लिया जा सकता है-

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।[2]

दोषहीन, गुणों से युक्त और फिर कहीं कहीं अलङ्कारों से युक्त भी अर्थात् सर्वत्र अलङ्कारों से समन्वित और कहीं कहीं अलङ्कारों से रहित शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं।

यहाँ आचार्य मम्मट ने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना है तथा इन दोनों को इस काव्यलक्षण में समान महत्त्व प्रदान किया है। शब्दश्च अर्थश्च

1. रसगङ्गाधर 1,1
2. काव्यप्रकाश 1,4

शब्दार्थौ इस रूप में यह उभयपदाप्रधान द्वन्द्वसमास है जो पाणिनि के चार्थे द्वन्द्वः[1] इस सूत्र से निष्पन्न हुआ है। द्वन्द्वसमास में दोनों पदों का एक जैसा स्थान और महत्त्व होता है उसमें विशेषणविशेष्यभाव अथवा गौणप्रधानभाव नहीं रहता है। वे स्वतन्त्र पद होते हैं। इस कारण शब्दार्थौ काव्यम् का अर्थ है– शब्द और अर्थ दोनों काव्य होते हैं और इनमें पाये जाने वाला काव्यत्व धर्म दोनों में समान रूप से रहता है। भामह एवं मम्मट आदि आचार्यों के काव्यलक्षण शब्दार्थ-साहित्यप्रस्थान के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों तत्त्वों की तुल्य महत्ता स्वीकार की है।

काव्य में शब्द और अर्थ के महत्त्व को लेकर प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में ही विवाद नहीं है परन्तु आधुनिक भाषाशास्त्रियों में भी शब्द और अर्थ के महत्त्व के सम्बन्ध में मतभेद है। लुईस, यैम्स्ले जैसे विद्वानों ने अर्थ की नितान्त उपेक्षा करते हुए केवल शब्द के आधार पर भाषाविज्ञान के भवन को खड़ा करने का प्रयास किया है। दूसरे विद्वानों ने अर्थ को पर्याप्त महत्त्व दिया है इनमें भाषाविज्ञान के कोपनहैगन सम्प्रदाय की प्रवर्तिका विदुषी प्रोफेसर एली फिशर जोर्गेन्सन (कोपेनहैगन विश्वविद्यालय डेनमार्क) का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता स्वीकार की है और इन दोनों में सामञ्जस्य स्थापित किया है।[2] संस्कृत काव्यों तथा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर भी इन दोनों मतों में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है।

शब्दप्राधान्यप्रस्थान में काव्य में अर्थ की अपेक्षा शब्द का अधिक महत्त्व है और शब्दार्थसाहित्यप्रस्थान में शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य स्वीकार करके इन दोनों को ही गौरव प्रदान किया गया है। इन दोनों ही मतों में अकेले पद को अथवा अकेले अर्थ को काव्य नहीं माना गया है। इन दोनों मतों के आचार्य शब्दविरहित अर्थ अथवा अर्थविरहित शब्द भी काव्य होता है इस बात को तो कदापि स्वीकार नहीं करते परन्तु एक दूसरे के विरुद्ध आरोप प्रत्यारोप के लिए सन्नद्ध हैं। वस्तुतः सामान्य स्थिति में शब्द और अर्थ इन दोनों को समान महत्त्व

---

1. अष्टाध्यायी 2,2,29
2. Form And Substance (Phonetic Linguistic Papers: Eli Fischer Jorgensen Akademisk Fortag Denmark 1971, See Introduction)

दिया जा सकता है। महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश में शब्द और अर्थ दोनों की समान महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है-

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥[1]

यहाँ महाकवि ने शिव और पार्वती के सम्पृक्तभाव (अयुतसिद्धसम्बन्ध अथवा अविनाभावसम्बन्ध) की उपमा शब्द और अर्थ के साथ दी है। इससे ज्ञात होता है कि अकेले शब्द और अकेले अर्थ का पृथक् पृथक् अस्तित्व ही नहीं होता क्योंकि जैसे पार्वती और शिव इकट्ठे रहते हैं उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी संयुक्त रहते हैं। इसके अतिरिक्त कवि ने अकेले शब्द अथवा अकेले अर्थ के ज्ञान को अपना प्रयोजन नहीं बताया अपितु इन दोनों के समवेत रूप को जानने की उन्हें अभिलाषा है। जैसे शिव और पार्वती में बड़े छोटे का भेद नहीं किया जा सकता वैसे ही शब्द और अर्थ के अलग अलग महत्त्व को न्यूनाधिक नहीं कहा जा सकता। यह बात दूसरी है कि शाब्दीव्यञ्जना में जहाँ अर्थ की सहकारिता होती है वहाँ शब्द और आर्थीव्यञ्जना में जहाँ शब्द की सहकारिता होती है वहाँ अर्थ की प्रधानता स्वीकार की जा सकती है।[2] प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति- प्रधानता के आधार पर नाम दिये जाते हैं-इस नियम के अनुसार जहाँ शब्द की प्रधानता होती है और शब्द परिवृत्त्यसह होते हैं वहाँ विद्यमान शब्दालङ्कार, शब्दगुण और शाब्दीव्यञ्जना में शब्द का स्थान ऊँचा होता है और जहाँ अर्थ की प्रधानता होती है वहाँ अवस्थित अर्थालङ्कार, अर्थगुण और आर्थी व्यञ्जना में अर्थ का अधिक महत्त्व होता है। ध्वनिकाव्य में शब्द और अर्थ की गौणता और व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती है।[3]

---

1. रघुवंश 1,1
2. तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दो यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा।
   अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः॥
   शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
   अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता॥ काव्यप्रकाश 2,20;3,23
3. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
   व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
   ध्वन्यालोक 1,13

वस्तुतः काव्य में शब्द और अर्थ अविनाभावसम्बन्ध से रहते हैं। इनको छोटा या बड़ा मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। वाच्यदशा में शब्द और अर्थ का महत्त्व एक जैसा रहता है। ध्वनिकाव्य में जहाँ इनको छोटे होने का अवसर मिलता है वहाँ शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। उपसर्जनीकृतस्वार्थ होकर अर्थात् अपने अर्थ को गौण बनाकर ये दोनों अहमहमिकया व्यङ्ग्यार्थ को पुष्ट करते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि व्याकरणादिशास्त्रों में शब्दप्रधान होते हैं और इतिहास में अर्थ तथा काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती है। अग्निपुराण में इस तथ्य को स्पष्ट रूप में बताया गया है-

शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेष्वर्थनिष्ठता।
अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते॥[1]

व्याकरणादिशास्त्र में तो शब्द की प्रधानता रहती है और इतिहास में अर्थनिष्ठता अर्थात् अर्थ में आस्था होती है। अर्थ की ओर दृष्टि होने से इतिहास में शब्दों की अपेक्षा अर्थ की प्रधानता होती है। क्योंकि इन दोनों में अभिधाशक्ति की ही प्रधानता होती है इस कारण व्यञ्जनाप्रधानकाव्य इन दोनों से पृथक् वस्तु है। अग्नेर्ढक् सूत्र (अ. 4,2,33) में प्राप्त ढक् प्रत्यय अग्नि शब्द के लिए विहित होगा वह्नि शब्द के लिए इसका विधान सम्भव नही है इस कारण आग्नेय शब्द की निष्पत्ति बन सकती है वाह्नेय की नहीं। इसी प्रकार रामायण महाभारतादि ऐतिहासिक ग्रन्थ वाच्यार्थप्रधान होते हैं। काव्य ग्रन्थों में शब्दार्थ गौण होते हैं व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता है। व्यङ्ग्यार्थ का प्रतिपादन करने में जितना शब्द का महत्त्व है उससे कहीं अधिक अर्थ का महत्त्व है। जब तक शब्द का अर्थ समझ में नहीं आता तब तक इससे अभिव्यञ्जित होने वाला व्यङ्ग्यार्थ भी स्पष्ट नहीं होता। शब्दार्थ साधन है व्यङ्ग्यार्थ साध्य। साध्य की सिद्धि होने से पहले साधन की प्रधानता होती है और साध्यसिद्धि के अनन्तर साध्य की। जैसे प्रकाश की कामना लेकर व्यक्ति पहले दीपक को जलाने मे प्रवृत्त होता है तदनन्तर दीपक के जल जाने पर प्रकाश की सहायता से अपने अभीष्ट कार्य में प्रवृत्त हो जाता है वैसे ही कुशलवक्ता वाचक शब्दों तथा वाच्यार्थादि का प्रयोग व्यङ्ग्यार्थ के बोधन के लिए करता है।[2]

1. अग्निपुराण 337,3-4
2. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥ ध्वन्यालोक 1,9

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् कहकर भामह तथा शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे कहकर आनन्दवर्धन ने काव्य में शब्दार्थ का सहभाव स्वीकार किया है।[1]

वस्तुतः पदसन्दर्भः काव्यम्, शब्दार्थौ काव्यम् और शब्दः काव्यम् इन तीनों प्रयोगों से एक ही प्रकार का अर्थ निकलता है। यहाँ प्रयुक्त पद और शब्द ये दोनों अर्थ के उपलक्षण हैं। स्वार्थावबोधकत्वे सति परार्थावबोधकत्वम् उपलक्षणत्वम्-अपने अर्थ को बताने के साथ साथ जो दूसरे अर्थ को बताये वह उपलक्षण कहलाता है। पाणिनि के प्रातिपदिक सञ्ज्ञाविधायक सूत्र से अर्थवान् शब्द की ही प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होती है।[2] इन प्रातिपदिक सञ्ज्ञाप्राप्त शब्दों को ही सुबन्तपद कहा जाता है। इसी प्रकार धातुओं से तिङादिप्रत्यय प्राप्त होते हैं। सार्थक शब्द और सार्थक धातुयें ही पदसञ्ज्ञा प्राप्त करती हैं।[3] योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति से युक्त सार्थक पदसमूह ही वाक्य बनता है।[4] यह वाक्य जब रसात्मक होता है तो यह काव्य कहलाता है।[5] जब पद या शब्द को काव्य कहा जाता है तो शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध होने के कारण अर्थ का ग्रहण स्वतः हो जाता है। क्योंकि अर्थशून्य शब्द में प्रयोगार्हता ही नहीं होती इसलिए काव्य की शब्दार्थनिष्ठता ही उचित है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में शब्द और अर्थ दोनों के लिए पद शब्द का प्रयोग किया है-

व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरुक्तनिघण्ट्वादिभि र्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थस्तौ पदम्।[6]

व्याकरणशास्त्र से प्रकृति, प्रत्यय द्वारा सिद्ध किया हुआ शब्द तथा निरुक्त, निघण्टु, कोश आदि के निर्देश के अनुकूल उस शब्द का अर्थ- ये दोनों ही पद कहलाते हैं। इस प्रकार राजशेखर ने शब्द तथा उसके सङ्केतितार्थ दोनों को

---

1. काव्यालङ्कार 1,6; ध्वन्यालोक 4,6 वृत्ति
2. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। अष्टाध्यायी 1,2,45
3. सुप्तिङन्तं पदम् वही 1,4,4
4. वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। साहित्यदर्पण 2,1
5. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। साहित्यदर्पण 1,3
6. काव्यमीमांसा अध्याय 6 पदवाक्यविवेकप्रकरण

पद बताया है। आचार्य आनन्दवर्धन के वाग्विकल्पानामानन्त्यात् (ध्वन्यालोक 1.1) इस वाक्य पर टीका करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है- वक्तीति वाक् शब्द:, उच्यते असौ वाक् अर्थ:, अर्थविशेष का प्रतिपादन करने के कारण शब्द वाक् कहलाता है तथा जिसका कथन किया जाता है वह अर्थ भी वाक् कहा जाता है

आचार्य जयदेव ने कहा है-

निर्दोषा लक्षणवती सरीति र्गुणभूषणा।

सालङ्कारसानेकवृत्ति र्वाक् काव्यनामभाक्।।[1]

श्रुतिकटुत्वादि दोषों से रहित, शोभादि लक्षणों से युक्त, पाञ्चाल्यादि रीतियों से युक्त, गुणों से भूषित, अलङ्कार, रस, कैशिकी और अभिधादि अनेक वृत्तियों से युक्त वाक् (शब्द और अर्थ) काव्यसञ्ज्ञा को प्राप्त करती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि शब्दप्राधान्यप्रस्थान (शब्दकाव्यतावाद) तथा शब्दार्थप्रस्थान (शब्दार्थकाव्यतावाद) में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भेद केवल शब्द की प्रधानता और गौणता को लेकर ही है। वस्तुत: शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य के घटक तत्त्व हैं। अर्थ के बिना शब्द और शब्द के बिना अर्थ दोनों ही अधूरे हैं। उत्तम कविता में इन दोनों का ही चमत्कारपूर्ण होना अनिवार्य एवं अपरिहार्य है।

आचार्य विश्वनाथदेवप्रतिपादित शब्दकाव्यतावाद

आचार्य विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु (रचनाकाल सन् 1592) में काव्य के दो लक्षण प्रस्तुत किये हैं। पहला लक्षण सरल रीति से प्रतिपादित किया गया है किन्तु दूसरा लक्षण नव्यन्याय की शैली से प्रौढता के साथ निरूपित किया गया है। इन दोनों लक्षणों पर पूर्वप्रतिपादित शब्दकाव्यतावाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

1. **प्रथम काव्यलक्षण**

जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदर:।

यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।।[2]

---

1. चन्द्रालोक 1,7
2. साहित्यसुधासिन्धु 1,4

जिस (वाक्य) के सुनने भर से ब्रह्मानन्दसहोदर (ब्रह्मसाक्षात्कार के अनुभव के आनन्द के समान) महान् आनन्द उत्पन्न होता है वह वाक्य काव्य कहलाता

इस काव्यलक्षण में वाक्य की काव्यता स्वीकार की गई है। देवदत्तो ग्रामं गच्छति जैसे जिन चमत्कारहीन वाक्यों से आनन्द की अनुभूति नहीं होती उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाये इसलिए यहाँ ब्रह्मानन्दसहोदरपरमानन्द इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। इससे यह अभिप्राय भी निकलता है कि रसास्वाद बहिर्वृत्ति-प्रधान लौकिक विषयानन्द और गणितज्ञों के ज्ञानप्रधान लौकिक आनन्द से पृथक् होता है। इनके पूर्ववर्ती आचार्य अभिनवगुप्त ने भी काव्यानन्द को ब्रह्मास्वाद के समान माना है। सविकल्पक और निर्विकल्पक न होते हुए भी उभयाभावस्वरूपात्मक यह रसास्वाद (काव्यानन्द) अलौकिक होता है।[1] इसी ब्रह्मास्वादसहोदर काव्यनिष्ठ परमानन्द की प्रतीति कराने वाला वाक्य काव्य होता है।

यहाँ विश्वनाथदेव ने वाक्य को काव्य माना है। इस लक्षण में श्रवणमात्रेण पद का प्रयोग किया गया है। क्योंकि श्रवण वाक्य का ही होता है उसके अर्थ का नहीं अतः काव्यत्व शब्दसमूह रूप वाक्य में रहता है। द्वितीय तरङ्ग को आरम्भ करने से पहले इन्होंने स्पष्ट रूप से शब्दः काव्यम् यह काव्यलक्षण स्वीकार किया है साथ ही शब्द का लक्षण भी दिया है। शब्दः काव्यमित्यभिहिते कोऽसौ शब्द इत्याकाङ्क्षायामाह-

आकाङ्क्षायोग्यतायुक्तस्तात्पर्यादिसमन्वितः।
शाब्दानुभवकारी यः स शब्दः परिकीर्तितः॥[2]

शब्द काव्य होता है यह बतला दिये जाने पर वह शब्द क्या है यह जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार (शब्द का लक्षण) कहते हैं-

आकाङ्क्षा और योग्यता से युक्त एवं तात्पर्य और आसत्ति से समन्वित शब्दजन्य ज्ञान को जो कराता है वह शब्द कहलाता है।

---

1. (क) ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः। काव्यप्रकाश 4,28 वृत्ति

(ख) उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः। काव्यप्रकाश 4,28 वृत्तिभाग।

2. साहित्यसुधासिन्धु 2,1

आचार्य विश्वनाथदेव ने इससे पहले प्रथम तरङ्ग में दिये इसी काव्यलक्षण में तद् वाक्यं काव्यमुच्यते कहकर वाक्यकाव्यतावाद का समर्थन किया है। वस्तुतः यहाँ शब्दः काव्यमित्यभिहिते कोऽसौ शब्दः इसके स्थान पर वाक्यं काव्यमित्यभिहिते किं तद् वाक्यम् यह प्रयोग भी किया जा सकता था और फिर वाक्य का लक्षण उपस्थित ही करना उचित हो सकता था। परन्तु उन्होंने ऐसा न कहके शब्दः काव्यम् कह कर शब्द का लक्षण दिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इनकी दृष्टि में वाक्यं काव्यम् और शब्दः काव्यम् इन दोनों का एक ही अर्थ है तथा इन दोनों वाक्य और पद को पर्यायवाची माना जा सकता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का वाक्यलक्षण विश्वनाथदेव के शब्दलक्षण से मिलता है।[1]

इस काव्यलक्षण में काव्य में ब्रह्मास्वादसहोदरपरमानन्दजनकत्वधर्म स्वीकार गया है। काव्य के परमानन्दजनकत्व रूप गुण को बताने के कारण यह लक्षण काव्य का तटस्थ लक्षण है साथ ही वाक्यं काव्यमुच्यते इस अंश से वाक्य रूप (आकृति अवयवादिविशेष रूप) वस्तु का परिचय प्राप्त होने से यह स्वरूप लक्षण भी है। इस लक्षण को सङ्क्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

ब्रह्मानन्दसहोदरपरमानन्दजनकं वाक्यं काव्यम्।

विश्वनाथदेव के इस काव्यलक्षण तथा पण्डितराजजगन्नाथ के निम्नलिखित काव्यलक्षण में कोई तात्त्विक भेद नहीं है-

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।[2]

रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा जाता है। रमणीयता लोकोत्तर आह्लादजनकज्ञान का विषय बनने वाला एक वस्तुधर्म है और वह हमारे ज्ञान का विषय बनकर लोकोत्तर आह्लाद प्रदान करती है। इस अलौकिक आह्लाद का दूसरा नाम चमत्कार है। यह साक्षात् अनुभव का विषय है।

---

1. वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। साहित्यदर्पण 2,1

2. रसगङ्गाधर 1,1, तथा वृत्तिभाग

ये दोनों आचार्य आनन्द या आह्लाद को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। इस काव्यलक्षण का आधार प्राचीन है। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन ने अभाववादियों के पूर्वपक्ष को उपस्थित करते हुए उनके मत को इस प्रकार बताया है–

अन्ये ब्रूयुः-नास्त्येव ध्वनिः सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।[1]

दूसरे ध्वन्यभाववादी कहते हैं कि ध्वनि है ही नहीं। सहृदयहृदयाह्लादक-शब्दार्थयुक्तत्व ही काव्य का लक्षण है। इस काव्यलक्षण में प्रयुक्त शब्दार्थमयत्वमेव के स्थान पर यदि वाक्यमेव का प्रयोग कर दिया जाये तो इस लक्षण का स्वरूप यह हो जायेगा सहृदयहृदयाह्लादि वाक्यमेव काव्यम्। यह लक्षण विश्वनाथदेव के जायते परमानन्दः इत्यादि काव्यलक्षण के बहुत अधिक निकट है। इस काव्यलक्षण में प्रयुक्त परमानन्द और ब्रह्मानन्दसहोदर शब्दों को आचार्य मम्मट तथा कविराज विश्वनाथ की कृतियों से लिया गया प्रतीत होता है।[2] वाक्य को काव्य मानने का सिद्धान्त साहित्यदर्पण से लिया गया है।[3]

वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेष-जनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं तथा च तदेव लक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति सर्वं सुस्थम्।[4]

वास्तव में तो अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि वाक्य से बताये हुए स्वर्गविशेष अर्थात् सुखविशेष के जनक उस काव्य के भीतर रहने वाली जनकता के अवच्छेदक अखण्डधर्म काव्यत्व की कल्पना कर लेनी चाहिए और वही काव्य का लक्षण हो जाये इन अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ इत्यादि अननुगत (अर्थात् जातिसाङ्कर्यादि के कारण अपने लक्ष्य पर पूरे न घटने वाले असङ्गत) लक्षण से क्या लाभ? क्योंकि पूर्ववर्ती काव्यलक्षणकारों के बनाये गये लक्षण अननुगत

---

1. ध्वन्यालोक 1,1 वृत्ति
2. (क) विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्। काव्यप्रकाश 1,2 वृत्ति
   ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्-शृङ्गारादिको रसः। वही 4,28 वृत्ति
   (ख) वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः। साहित्यदर्पण 3,2
3. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्-साहित्यदर्पण 1,3
4. साहित्यसुधासिन्धु 1,4,वृत्ति

हैं और हमारा यह लक्षण अनुगत है। इसलिए काव्यलक्षणविषयक सारा सिद्धान्त भलीभाँति स्थापित हो गया है।

इस लक्षण में प्रयुक्त अदोषं गुणवत् इत्यादि समस्त पद का विग्रह इस प्रकार है-

अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिना वाक्येन प्रतिपादितः यः स्वर्गविशेषः तस्य जनकतायाः (स्वर्गविशेषस्य जनकं काव्यं तन्निष्ठजनकतायाः) अवच्छेदकं काव्यत्वम् (तच्च) अखण्डम्।

विश्वनाथदेव द्वारा प्रस्तुत यह द्वितीय काव्यलक्षण वाक्यविन्यास में सावधानी न रखने के कारण क्लिष्ट एवं दुरूह हो गया है। इसके अतिरिक्त यह लक्षण काव्य के पर्यवसित लक्षण के रूप में नव्यन्याय की शैली से प्रस्तुत किया गया है इस कारण इसकी क्लिष्टता और दुरूहता में और वृद्धि हो गई है। वस्तुतः इस लक्षण का वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितः इतना अंश प्रमाणवाक्य है तथा स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वम् अखण्डं कल्पनीयम् यह अंश काव्यलक्षणांश है। इन दोनों अंशों को कुछ आगे पीछे करके परिवर्तित रूप में रख देने से यह काव्यलक्षण सरल एवं सुस्पष्ट हो सकता है। यदि पहले प्रमाणवाक्य को रखकर बाद में काव्यलक्षण रख दिया जाये तो इसका स्वरूप यह बन सकता है-

वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितविधिना स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वम् अखण्डं कल्पनीयम्।

वास्तव में तो (भोजराज द्वारा) अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि वाक्य से प्रतिपादित विधि से (अर्थात् सरस्वतीकण्ठाभरण की इस कारिका में जैसे काव्य का धर्म स्वर्ग अर्थात् सुखविशेष की जनकता बताया है वैसे ही) सुखविशेष के जनक काव्य के भीतर रहने वाली काव्यता के अवच्छेदक अखण्डधर्म रूप काव्यत्व की कल्पना कर लेनी चाहिए। यदि इसी प्रमाणवाक्य को बाद में रखा जाए तो इस लक्षण का स्वरूप इस प्रकार का बन सकता है-

वस्तुतस्तु स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वम् अखण्डं कल्पनीयम् एतदेव अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितम्।

वास्तव में तो सुखविशेष के जनक काव्य के भीतर रहने वाली काव्यता के अवच्छेदक अखण्डधर्म रूप काव्यत्व की कल्पना कर लेनी चाहिए यही बात (भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण में) अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि

कारिकावाक्य से निरूपित की गई है।

यदि उस दूसरे काव्यलक्षण में से अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्य-प्रतिपादितः यह काव्यलक्षणांश पृथक् कर दिया जाये तो स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यमखण्डम् इतना ही काव्यलक्षण बनेगा।

विश्वनाथदेव द्वारा प्रस्तुत इस काव्यलक्षण का सरल अर्थ इस रूप में समझा जा सकता है – अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि वाक्य से जिस सुखविशेष का प्रतिपादन किया गया है उसी सुखविशेष को काव्य उत्पन्न करता है। वस्तुतः भोजराज के सरस्वतीकण्ठभरण से उद्धृत किया गया यह पूरा कारिकावाक्य इस प्रकार है–

अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।

रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं स्वर्गं च विन्दति॥ सरस्वती. 1,2

आचार्य विश्वनाथदेव के अनुसार इस पूरे कारिकावाक्य से इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि काव्य स्वर्गविशेष अर्थात् सुखविशेष का समुत्पादक है इसलिए सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आचार्य भोजराज ने अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि वाक्य से जिस सुखविशेष को काव्य का प्रयोजन माना है उसी सुखविशेष का उत्पादक काव्य है। यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से आचार्य यह बताना चाहते हैं कि काव्य को सुखविशेष का जनक मानने का हमारा आधार भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण की यह कारिका है।

वस्तुतः भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण से उद्धृत इस कारिका में दो वाक्यांश है–

1. अदोषं गुणवत् अलङ्कारैरलङ्कृतं रसान्वितं काव्यम्
2. (तत्) कुर्वन् कविः कीर्तिं स्वर्गं च विन्दति।

पहले वाक्यांश में काव्यलक्षण है तथा दूसरे वाक्यांश में काव्यप्रयोजन है। ये दोनों वाक्य स्वतन्त्र रूप से दो भिन्न भिन्न अर्थों की ओर निर्देश करते हैं। किन्तु विश्वनाथदेव ने पहले वाक्यांश को दूसरे वाक्यांश का अङ्ग बना दिया है। इस प्रकार दूसरे वाक्यांश को प्रधान मानकर समस्त कारिकावाक्य से सुखविशेष की प्राप्ति गतार्थ कराई है। अपने पर्यवसित काव्यलक्षण के लिए इन अंशों का विश्वनाथदेव ने बड़े विचित्र ढंग के उपयोग किया है। मनोगत भाव को ध्यान में रखकर इस कारिका से इस प्रकार का अर्थ निकाला जा सकता है–

अदोषत्वादिविशेषणों से विशिष्ट काव्य की रचना करके कवि कीर्ति और स्वर्ग को प्राप्त करता है। तदनुसार उसके काव्य को पढ़कर सामाजिक को भी इस प्रकार का सुखविशेष प्राप्त हो जाता है। इस भाँति जैसा सुखविशेष उत्पन्न करने का प्रयोजन भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में बताया है वैसा ही सुखविशेष उत्पन्न करना काव्य का धर्म होता है यह विश्वनाथदेव के कथन का निर्गलितार्थ है।

अपने इस दूसरे पर्यवसित काव्यलक्षण को आचार्य विश्वनाथदेव ने अनुगत बताया है तथा अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के आस्वादजीवातुपदसन्दर्भः काव्यम् एवं अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ इत्यादि काव्यलक्षणों को अननुगत कहा है। अपने इस काव्यलक्षण के तुरन्त बाद उन्होंने कहा है–

तथा च तदेव काव्यलक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति सर्वं सुस्थम्।[1] और यह (अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि वाक्यप्रतिपादित स्वर्गविशेष का समुत्पादक काव्य होता है इस प्रकार का) हमारा बताया हुआ काव्यलक्षण ही मान्य हो जाना चाहिए। इस अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ इत्यादि मम्मट और उनके समर्थकों द्वारा माने गये असङ्गत काव्यलक्षण को मानने से कोई लाभ नहीं है। इस प्रकार हमने उपयुक्त काव्यलक्षण को सिद्ध कर दिया है।

जो लक्षण अपने लक्ष्य पर पूरा नहीं घटता है या लक्ष्य से बाहर चला जाता है अथवा असम्भवदोषग्रस्त होता है वह अननुगत अर्थात् असङ्गत होता है। यदि लक्षण अपने लक्ष्य पर पूरा घटता है, उससे बाहर भी नहीं जाता और उसमें असम्भव दोष भी नहीं होता तो वह अनुगत होता है। अन्यूनातिरिक्तविषयत्वं लक्षणत्वम्–जो अपने विषय (उदाहरण) पर न तो न्यून (कम) और न अतिरिक्त (उससे बाहर) होकर घटे अर्थात् जो अपने विषय पर पूरा घटे वह लक्षण अनुगत (ठीक) होता है ऐसा माना जाता है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्य विश्वनाथदेव ने आचार्य मम्मट तथा उनके समर्थकों के अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ इत्यादि काव्यलक्षण को अननुगत किसलिए कहा है? वस्तुतः वहाँ इसी काव्यलक्षण को अननुगत नहीं कहा है अपितु वे आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, आस्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यम् इत्यादि अन्य लक्षणों को भी अननुगत बता रहे हैं क्योंकि इन लक्षणों के सम्बन्ध

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्तिभाग

में पक्ष विपक्ष में युक्ति, प्रत्युक्ति तर्क एवं प्रतितर्क किये जाते हैं। इस कारण अदौषौ तद्धि शब्दार्थौ यह मत तो इन असङ्गत मतों का उपलक्षण है क्योंकि यह अपने साथ अन्य मतों का भी ग्रहण कर रहा है। अतः न केवल यही अकेला अननुगत है बल्कि इसके साथ ही दूसरे लक्षण भी अननुगत हैं यह तात्पर्य है।

अदौषौ तद्धि शब्दार्थौ इत्यादि काव्यलक्षण इसलिए अननुगत है कि शब्द और अर्थ दोनों में काव्य मानने पर शब्द में शब्दत्व और अर्थ में अर्थत्व रूप दो जातिधर्म एक वस्तु काव्य में कैसे रहेंगे? इस प्रकार दो जातिधर्म के एक ही आश्रय में रहने से जातिसाङ्कर्य दोष आने के कारण यह लक्षण अननुगत अर्थात् असङ्गत है। यदि शब्दः काव्यम् कहा जाये तो इस शब्द में अर्थ का भी अध्याहार किया जाता है क्योंकि अर्थप्रतिपादक शब्द ही काव्य में रखा जाता है केवल शब्दः काव्यम् तथा वाक्यं काव्यम् इन दोनों प्रकारों से शब्दप्राधान्यकाव्यतावाद का कथन होता है। क्योंकि शब्दः काव्यम् कहने से शब्द न केवल अपना ग्रहण करता है अपितु स्वसम्बद्ध अर्थ का भी ग्रहण करता है। निरर्थक शब्द से जब किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती तो उसका प्रयोग करना या न करना बराबर है। इसी प्रकार वाक्य तभी होता है जब किसी पदसमूह में आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति यह तीन धर्म पाये जायें। इन तीनों के होने पर ही वह पदसमूह सार्थक बन पाता है। किन्तु शब्दः काव्यम् अथवा वाक्यं काव्यम् इस लक्षण को मानने में यह आपत्ति आती है-रघुवंशादि श्रव्यकाव्य तो श्रवणीय एवं पठनीय होने के कारण काव्य के लक्षण के अन्तर्गत आ जायेंगे। पर अभिज्ञानशाकुन्तलादि दृश्यकाव्य इन लक्षणों के लक्ष्य नहीं बन सकते क्योंकि वे सुनने और पढ़ने के अतिरिक्त देखे भी जाते हैं। इसके अतिरिक्त काव्यं श्रुतं काव्यं पठितम् यह व्यवहार कैसे सङ्गत होगा? क्योंकि बोध तो अर्थ का ही होता है। यदि अर्थ को काव्य नहीं माना जाए तो अर्थदोष, अर्थगुण तथा अर्थालङ्कार के निरूपण का क्या प्रयोजन होगा? शब्द का चमत्कार तो शब्दालङ्कारों, शब्दगुणों तथा शाब्दीव्यञ्जना में ही देखने को मिलता है किन्तु अर्थ का चमत्कार अर्थालङ्कार, अर्थगुण, अभिधामूल, लक्षणामूल, और व्यञ्जनामूल त्रिविधध्वनि तथा कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थों में देखने को मिलता है। रसादिध्वनि की अभिव्यक्ति में तो शब्द के समान अर्थ का व्यापार भी प्रधान होता है तो अर्थ की उपेक्षा कैसे की जा सकती है? कवि जैसे शब्द का निर्माण करता है वैसे अर्थ का भी निर्माण वही करता है। इसलिए अर्थ भी कविकर्म है। जब शब्द की तुलना में अर्थ का महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं है तो रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः

काव्यम् जैसे काव्यलक्षणों में अर्थ को गौण स्थान तथा शब्द को प्रधान स्थान क्यों दिया जाता है? तददोषौ शब्दार्थौ इत्यादि काव्यलक्षण में मम्मट ने शब्द और अर्थ दोनों को जो समान महत्त्व दिया है वह उसे शब्दप्राधान्यकाव्यतावादियों ने क्यों नहीं प्रदान किया? मम्मट ने शब्द और अर्थ को तो समान महत्त्व दिया है किन्तु इनके शब्दार्थयुगलकाव्यतावाद पर विश्वनाथ, विश्वनाथदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुत से आक्षेप किये हैं। शब्दार्थौ के जो अदोषौ सगुणौ और अनलङ्कृती पुनः क्वापि विशेषण रखे हैं उनका भी उत्तरवर्ती विश्वनाथ जैसे आचार्यों ने खण्डन किया है। विश्वनाथ के इस खण्डन में सचाई भी है। दोषविहीन होना एवं गुण और अलङ्कारों से समन्वित होना काव्य के बाह्य धर्म हैं। गुण यद्यपि रसात्मक काव्य के आन्तरिक धर्म हैं तथापि जब ये प्रसादादि गुण रीति के रूप में काव्य के बाह्य स्वरूप में प्रमुखता से रहते हैं तो ये भी अलङ्कारों की तरह काव्य की बाह्य शोभा को बढ़ाया करते हैं। इसलिए आचार्य विश्वनाथदेव काव्य के पहले तथा दूसरे पर्यवसित लक्षण को रखते समय अदोषता, गुण और अलङ्कारों का उल्लेख नहीं करते हैं। वे ब्रह्मास्वादसहोदरपरमानन्दजनकता तथा सुखविशेष की जनकता की भी काव्यता मानते हैं। इस प्रकार शब्दार्थौ काव्यम्, शब्दः काव्यम् या वाक्यं काव्यम् मानने वालों के पक्षों में आने वाले दोषों से रहित होने के कारण इनका द्वितीय काव्यलक्षण अनुगत काव्यलक्षण बन जाता है। इनके स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वम् इस काव्यलक्षण में शब्दकाव्यत्व या शब्दार्थकाव्यत्व की चर्चा ही नहीं है। इस कारण इनका काव्यलक्षण बहुत मात्रा में असङ्गतियों से दूर हो गया है। इसी कारण इन्होंने अपने काव्यलक्षण को अप्रत्यक्ष रूप में अनुगत बताया है।

यद्यपि इस काव्यलक्षण को विश्वनाथदेव की ओर से अनुगत काव्यलक्षण के रूप में उपस्थित करने का दावा किया गया है पर यह लक्षण भी सम्पूर्ण लक्षण नहीं है। इसका स्वर्गविशेषजनकताच्छेदक विशेषण काव्य के गुणविशेष का परिचय तो कराता है परन्तु उसके स्वरूप को नहीं बताता है। काव्य का जो लक्षण गुण, क्रिया आदि विशेषणों से किसी वस्तु का परिचय कराता है वह तटस्थ लक्षण कहलाता है। क्योंकि यहाँ गुण द्वारा काव्य का ज्ञान हो रहा है इस कारण काव्य का यह लक्षण तटस्थलक्षणमात्र बनकर रह गया है। इससे काव्य के (आकृति और अवयव भूत) शब्दार्थ रूप मूर्ततत्त्वों का ज्ञान नहीं होता है। आकृति, अवयवादि विशेष रूपों के द्वारा वस्तु का ज्ञान कराने वाला स्वरूपलक्षण होता है। इस लक्षण से ही लक्ष्य वस्तु का पूर्णतया ज्ञान होना सम्भव है। इसलिए इस लक्षण में परिष्कार करना आवश्यक है। अपने जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः इत्यादि पहले काव्यलक्षण

में विश्वनाथदेव वाक्य की काव्यता स्वीकार करते हैं। इस कारण इस लक्षण में यदि अर्थप्रतिपादकवाक्यम् शब्दों का समावेश कर दिया जाये तो तटस्थ और स्वरूप लक्षण का समन्वित तथा परिष्कृत रूप इस प्रकार हो जायेगा–

स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकवाक्यं काव्यम्।

स्वर्गविशेष (सुखविशेष) के जनक अर्थ (काव्यार्थ) विषयक (पुनः पुनः अनुसन्धानात्मिका धारावाहिक प्रतीति में रहने वाली) जनकता के अवच्छेदक अर्थ का प्रतिपादक वाक्य काव्य है।

काव्य के इस परिष्कृत लक्षण के साथ पण्डितराजजगन्नाथ के निम्नलिखित प्रथम पर्यवसित काव्यलक्षण का पूर्णसाम्य परिलक्षित होता है–

इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम् (काव्यत्वम्)।[1]

इस प्रकार लोकोत्तर आह्लाद की जनिका भावना के विषयभूत अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है।

विश्वनाथदेव के काव्यलक्षण में स्वर्ग तथा वाक्य शब्द का प्रयोग है और पण्डितराज के काव्यलक्षण में चमत्कार और शब्द पद प्रयुक्त हुए हैं। स्वर्ग, सुख चमत्कार और आस्वाद शब्द काव्यशास्त्र में पर्यायवाची समझे जाते हैं। इसी प्रकार वाक्य और शब्द भी पर्यायवाची है। साहित्यदर्पण में आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य बताया गया है।[2]

साहित्यसुधासिन्धु में शब्द का निम्नलिखित लक्षण दिया हुआ है

आकाङ्क्षायोग्यतायुक्तस्तात्पर्यादिसमन्वितः।
शाब्दानुभवकारी यः स शब्दः परिकीर्तितः।।[3]

आकाङ्क्षा और योग्यता से युक्त तथा तात्पर्य एवं आसत्ति आदि से समन्वित शब्दजन्यज्ञान का जो अनुभव (बोध) कराता है वह शब्द कहलाता है।

---

1. रसगङ्गाधर 1,1 वृत्ति
2. वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। साहित्यदर्पण 2,1
3. साहित्यसुधासिन्धु 2,8

पण्डितराजजगन्नाथ का तृतीय पर्यवसित काव्यलक्षण इस प्रकार है-

स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्।[1]

वस्तुतः पण्डितराजजगन्नाथ के इस काव्यलक्षण में तथा साहित्य-सुधासिन्धु के काव्यलक्षण में चमत्कार तथा स्वर्गविशेष पदों का ही अन्तर है इसके तात्पर्य में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। पण्डितराज के चमत्कारत्ववत्त्वमेव के स्थान पर यदि स्वर्गविशेषत्ववत्त्वमेव पद रख दिया जाये तो निम्नलिखित काव्यलक्षण विश्वनाथदेवानुमोदित बन जायेगा-

स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण स्वर्गविशेषत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वम्।

विश्वनाथदेव के जायते परमानन्दो इत्यादि प्रथम काव्यलक्षण की पण्डितराजजगन्नाथ के रमणीयार्थप्रतिपादकः इत्यादि काव्यलक्षण के साथ समानता पहले दिखाई जा चुकी है।

वस्तुतः आचार्य विश्वनाथदेव ने अपने द्वितीय काव्यलक्षण में स्वर्ग शब्द का सुख अर्थ में प्रयोग सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता भोजराज द्वारा अपने काव्यलक्षण में प्रयुक्त प्रीति शब्द के स्थान पर किया है।[2] पण्डितराज ने अपने काव्यलक्षणों में रमणीय और चमत्कार पदों को रखा है तो इन्होंने परमानन्द और स्वर्ग पदों को रखा है। इनके पूर्ववर्ती दण्डी, चण्डीदास और विश्वनाथ ने शब्दकाव्यत्व तथा वाक्यकाव्यत्व को स्वीकार किया है। इसी परम्परा के साथ विश्वनाथदेव और पण्डितराज जगन्नाथ भी जुड़ गये हैं। ये सभी शब्दप्राधान्यप्रस्थान को मानने वाले आचार्य हैं।

वस्तुतः आचार्य विश्वनाथदेव तथा पण्डितराजजगन्नाथ के इन काव्यलक्षणों में उपलब्ध यह शब्दसाम्य एवं भावसाम्य आकस्मिक नहीं है। ये दोनों आचार्य वाराणसी में रहकर ग्रन्थप्रणयन एवं विद्याभ्यास में संलग्न रहे थे। इनके समय

1. रसगङ्गाधर 1,4 वृत्तिभाग

2. (क) अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं स्वर्गं च विन्दति।। साहित्यसुधासिन्धु 1,3 वृत्तिभाग

(ख) अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।। सरस्वतीकण्ठारण 1,2

इस नगरी में मम्मट के काव्यप्रकाश के माणिक्यचन्द्र, नरहरितीर्थ, चण्डीदास, विश्वनाथ आदि टीकाकारों में काव्य के लक्षण आदि के सम्बन्ध में उहापोह तथा तर्क वितर्क की विचारपरम्परा प्रचलित थी। यह परम्परा नव्यन्याय की शैली से प्रभावित थी जिसमें काव्य के लक्षणों के पदकृत्य, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष आदि पर बहुत बल दिया जाता था। इनके समय में गम्भीर विषयों पर वाद विवाद तथा शास्त्रार्थ किये जाते थे और प्रौढपाण्डित्य तथा सूक्ष्मविवेचन के प्रदर्शन की प्रवृत्ति चरमसीमा पर पहुँची हुई थी। यही कारण है कि इन दोनों आचार्यों की कृतियों पर इन टीकाकारों की टीकाओं का अधिक प्रभाव है। यद्यपि पण्डितराज ने तो अपनी ओर से स्वतन्त्र चिन्तन को दिखाने का प्रयास किया है तथापि वे कहीं कहीं उसमें सफल नहीं हो पाये हैं। साहित्यसुधासिन्धुकार विश्वनाथदेव ने अपने से पहले प्रचलित काव्यप्रकाश की सारबोधिनी टीका को कहीं कहीं ज्यों का त्यों उतार लिया है तथा श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य की काव्यपरीक्षा तथा रुद्रट के काव्यालङ्कार आदि ग्रन्थों से भी प्रचुरमात्रा में सामग्री ग्र[illegible] है। श[illegible]तावादी आचार्यों में दण्डी, चण्डीदास, विश्वनाथ, विश्वनाथदेव और पण्डितराजजगन्नाथ प्रमुख हैं।[1]

गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थकाव्यतावाद एवं काव्य में अलङ्कार का स्थान

गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थकाव्यतावाद

आचार्य मम्मट ने काव्य का लक्षण इस प्रकार बताया है– तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।[2] रसविघातकच्युतसंस्कृत्यादि प्रबल दोषों से रहित, गुणों से युक्त और कहीं कहीं अलङ्कारों से रहित भी अर्थात् सर्वत्र स्फुट अलङ्कारों वाले और कहीं कहीं अस्फुट अलङ्कारों से युक्त शब्द और अर्थ काव्य होते हैं।

---

1. (क) शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यादर्श 1,10
   (ख) आस्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यम्। काव्यप्रकाश 1,4 दीपिकाटीका
   (ग) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । साहित्यदर्पण 1,3
   (घ) जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
   यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।। साहित्यसुधासिन्धु 1,4
   (ङ) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रसगङ्गाधर 1,1
2. काव्यप्रकाश 1,4

यहाँ क्वापि इस पद से ग्रन्थकार यह कहते हैं कि काव्य में सब जगह स्फुटालङ्कारसहित परन्तु कहीं कहीं स्फुटालङ्कारों के न रहने पर भी (रसादि के साथ साथ) अस्फुटालङ्कारों वाले शब्द और अर्थों के काव्यत्व की कोई हानि नहीं होती अर्थात् उनको भी काव्य कहा जा सकता है। जैसे यः कौमारहरः इत्यादि उदाहरण में हम देखते हैं कि यहाँ कोई स्फुट अलङ्कार नहीं है। किन्तु अस्फुटालङ्कार और विप्रलम्भशृङ्गार होने के कारण यहाँ काव्य है।[1]

ग्रन्थकार का यह अभिप्राय है कि काव्य में गुण और रस के साथ साथ स्फुटालङ्कार तो सर्वत्र होते ही हैं किन्तु कभी कभी और कहीं कहीं अस्फुटालङ्कारों से युक्त काव्य भी काव्य कहलाता है। जैसे यः कौमारहरः इत्यादि उदाहरण में यद्यपि कोई स्फुटालङ्कार नहीं है किन्तु यहाँ विभावना और विशेषोक्ति इन दोनों का सन्देहसङ्कर और वक्रोक्ति जैसे अस्फुटालङ्कार विप्रलम्भशृङ्गार रस के साथ प्रतीत हो रहे हैं अतः यहाँ रस और अस्फुटालङ्कार इन दोनों की स्थिति होने से काव्यत्व है।

मम्मटोत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि अलङ्कारों के ये स्फुटास्फुटभेद मम्मटानुमोदित हैं। विश्वनाथदेव ने इनको विशेषालङ्कार और सामान्यालङ्कार का नाम दिया है।[2]

मम्मट के पूर्ववर्ती अलङ्कारवादी आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार

---

1. क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कार-
विरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा।
यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते।।
अत्र स्फुटो न [illegible]दलङ्कारः। रसस्य प्राधान्यान्नालङ्कारता।
काव्यप्रकाश [illegible] वृत्ति

2. (क) एतन अनलङ्कृती पुनः क्वापि इति यदुक्तम् तदपि परास्तम्।
अस्यार्थः सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्त्वस्फुटालङ्कारावपि
शब्दार्थौ काव्यमिति। साहित्यदर्पण 1,2 वृत्ति

(ख) अत्र च विशेषालङ्कारविरहेऽपि सामान्यालङ्कारसत्त्वान्न काव्यत्वहानिरित्यवधेयम्।
साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति

3. काव्यालङ्कार 1,16

में शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।[3] यह काव्य का लक्षण बताया है। उन्होंने शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य माना है। जिस रचना में अर्थों के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थों का विन्यास हो वे शब्द और अर्थ ही सहितौ पद से विवक्षित हैं। यही शब्द और अर्थ का साहित्य है। किन्तु ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने भामह के काव्यलक्षण से शब्दार्थौ पद का ग्रहण करके उसमें अदोषौ, सगुणौ और अनलङ्कृती पुनः क्वापि इन विशेषणों को जोड़ दिया है। उनके मतानुसार दोषहीन, गुण और अलङ्कार से विशिष्ट शब्दार्थ ही काव्य हो सकते हैं इन विशेषणों से रहित शब्दार्थ नहीं। गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थ को काव्य मानने के कारण इनके मत को गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थकाव्यतावाद का नाम दिया जा सकता है।

काव्य में अलङ्कारों का स्थान

आचार्य मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में गुण और अलङ्कारों को समाविष्ट किया है गुण रस के बिना नहीं रहते हैं इस कारण सगुणौ पद से सरसौ का भी अध्याहार स्वतः हो जाता है। सगुण, सरस, स्फुटालङ्कार और अस्फुटालङ्कार से युक्त शब्द और अर्थ को उन्होंने काव्य माना है। काव्यशास्त्र के अध्येताओं के सम्मुख यह बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो गई है कि आचार्य मम्मट ने काव्यलक्षण में तो अलङ्कारों को रसों और गुणों के समान महत्त्व दिया है और काव्य में इनकी गुणवत् आवश्यकी स्थिति स्वीकार की है किन्तु अपने गुणलक्षण और अलङ्कारलक्षण में गुण की अपेक्षा अलङ्कार का महत्त्व कम कर दिया है। यहाँ तक कि अलङ्कारविहीन काव्य को भी काव्य मान लिया है। गुणों की बराबरी करने वाले अलङ्कारों को उनके स्थान से हटाकर काव्य में उनकी अनिवार्यता पर भी प्रश्नचिह्न लगा दिया है। आचार्य मम्मट के द्वारा अपने गुणों और अलङ्कारों के लक्षणों में काव्यान्तर्वर्ती गुणों की अचलस्थिति और अलङ्कारों की चलस्थिति बताने से पश्चाद्वर्ती आचार्यों और टीकाकारों के लिए अलङ्कारों को काव्य में गौण स्थान प्रदान करने के द्वार खुल गये। परिणामतः काव्य में अलङ्कारों की स्थिति के सम्बन्ध में ये दो विचारधारायें प्रचलित हो गई थीं–

1. काव्य में अलङ्कारों का अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।
2. काव्य में अलङ्कारों का वैकल्पिक और गौण स्थान होता है।

काव्य में अलङ्कारों का अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण स्थान

मम्मट के पूर्ववर्ती भामह ने कहा है-

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।[1]

सुन्दर होता हुआ भी कामिनी का मुख बिना आभूषणों के शोभित नहीं होता। इस कथन द्वारा भामह ने काव्य में अलङ्कारों को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया है। ये अलङ्कारवादी आचार्य अलङ्कार को काव्य की आत्मा मानते हैं। किन्तु आचार्य मम्मट गुण, रस और अलङ्कार इन तत्त्वों को काव्य के लिये अनिवार्य एवं अपरिहार्य मानते हैं। उन्होंने दो प्रकार के अलङ्कार माने हैं(1) स्फुट तथा (2) अस्फुट। अनलङ्कृती पद में प्रयुक्त नञ् को स्पष्ट करते हुए माणिक्यचन्द्र ने कहा है कि यहाँ नञ् शब्द का प्रयोग अल्पार्थ में किया गया है जिससे यह समझना चाहिए कि काव्य में कहीं कहीं अस्फुटालङ्कारों वाले शब्द और अर्थ होते हैं। सर्वथा निरलङ्कार शब्द और अर्थ काव्य नहीं कहलाते। यदि स्फुट अलङ्कारों का अभाव हो किन्तु अस्फुट अलङ्कार हों तो काव्यत्व की हानि नहीं होती।[2]

वामनाचार्य झलकीकर ने काव्य से सम्बन्धित निम्न छः अवस्थायें मानी हैं-

1. सरसं स्फुटालङ्कारसहितम्।
2. सरसं अस्फुटालङ्कारसहितम्।
3. सरसम् अलङ्कारशून्यम्।
4. नीरसम् स्फुटालङ्कारसहितम्।
5. नीरसम् अस्फुटालङ्कारसहितम्।
6. नीरसम् अलङ्कारशून्यम् ।[3]

मम्मट के अनुसार यहाँ प्रथम,द्वितीय,चतुर्थ और पञ्चम भेद ही काव्य माने जाते हैं तृतीय और षष्ठ भेद नहीं। सरस और अलङ्कारशून्य तृतीय भेद को मम्मट इसलिए काव्य नहीं मानते क्योंकि उनकी दृष्टि में ऐसी सरस रचना सम्भव नहीं है

1. काव्यालङ्कार 2,13
2. अनलङ्कृती इत्यत्र नञोऽल्पार्थकतया क्वाप्यस्फुटालङ्कृती इति ज्ञेयम् न तु सर्वथा निरलङ्कृती – विरहशब्दः सर्वथा न अभावं सूचयति न काव्यत्वहानिरिति । काव्यप्रकाश सङ्केतटीका
3. काव्यप्रकाश 1,4 वामनाचार्य झलकीकरकृत बालबोधिनी टीका

जहाँ स्फुटालङ्कार न हो। पण्डितराजजगन्नाथ ने यह आपत्ति उठाई है उदितं मण्डलंविधोः इस ध्वनिकाव्य के उदाहरण में कौनसा गुण या अलङ्कार है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यहाँ वक्रोक्ति अर्थात् अतिशयोक्ति रूप अस्फुटालङ्कार तो परिलक्षित होता ही है। काव्य की पञ्चम अवस्था नीरस और अस्फुटालङ्कार सहित मानी है। क्योंकि रस के बिना केवल अलङ्कार के होने पर भी काव्य माना जा सकता है।

इस प्रकार मम्मट के काव्यलक्षण में रस, गुण और अलङ्कार इन तीनों को काव्य का घटक तत्त्व माना गया है। काव्य में इन तीनों का ही अनिवार्य, अपरिहार्य एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। उत्तरवर्ती राजचूडामणि ने भी मम्मट का समर्थन करते हुए काव्य में अलङ्कार की आवश्यक स्थिति मानी है।[1]

काव्य में अलङ्कारों का वैकल्पिक एवं गौण स्थान

मम्मट तथा विश्वनाथ का मत

आचार्य मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में जहाँ अलङ्कारों को अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है वहाँ गुणों और अलङ्कारों के लक्षणों में इनको वैकल्पिक एवं गौण स्थान दे दिया है। इन दोनों स्थलों में प्रतिपादित विचारों की परस्पर सङ्गति बैठाना बहुत दुष्कर एवं कठिन है। काव्यलक्षण में गुण, अलङ्कार और रस तीनों का समावेश किया गया है। इसके विपरीत अलङ्कारलक्षण में शब्दार्थ रूप काव्य के लिये अलङ्कारों को अनिवार्य नहीं माना है। मम्मट ने अलङ्कारों का लक्षण इस प्रकार किया है-

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

ये वाचकवाच्यलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः।[2]

---

1. (क) काव्यं ह्यदुष्टौ सगुणौ शब्दार्थौ सदलङ्कृती। काव्यदर्पण पृ. 90
(ख) शब्दालङ्काराणामर्थालङ्काराणाञ्च यथायथं रसाभिव्यञ्जकशब्दार्थोपस्कारकत्वेनालङ्कार-त्वादुपस्कारकाभावे च न रसाभिव्यक्तिपौष्कल्य-मिति सालङ्कारत्वमप्यावश्यकम्। वही पृ. 13

2. काव्यप्रकाश 8,67 तथा वृत्ति

और जो काव्य में विद्यमान उस अङ्गी रस को शब्द तथा अर्थ रूप अङ्गों के द्वारा कभी कभी उपकृत करते हैं वे अनुप्रास और उपमादि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार हारादि दैहिक अलङ्कारों के समान काव्य के अलङ्कार होते हैं।

शब्द तथा अर्थ रूप अङ्गों के उत्कर्ष द्वारा जो विद्यमान मुख्य रस को उपकृत करते हैं वे कण्ठादि अङ्गों के उत्कर्षाधान द्वारा शरीरी आत्मा के भी परम्परया उत्कर्षाधायकहारादि के समान अलङ्कार कहलाते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने अलङ्कारों का लक्षण इस रूप में प्रस्तुत किया है–

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

यथा अङ्गदादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिणमुपकुर्वन्ति तथानुप्रासोपमादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारकाः। अलङ्कारा अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः।[1]

शोभा को अतिशयित करने वाले रसभावादि के उपकारक जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं वे अङ्गद (बाजूबन्द) आदि की तरह अलङ्कार कहलाते हैं। जैसे अङ्गद (बाजूबन्द) अलङ्कार शरीर की शोभा को बढ़ाते हैं और शरीरी के उपकारक होते हैं अर्थात् शरीर की शोभा को बढ़ाते हुए शरीरधारी पुरुष की उत्कृष्टता का वर्धन करते हैं वैसे ही अनुप्रास, उपमादि अलङ्कार काव्य के शरीर रूप शब्द अर्थ की शोभा को बढ़ाते हैं और काव्य के आत्मभूत रस के उपकारक होते हैं। उक्त कारिका में अलङ्कारों को अस्थिर इसलिए कहा है कि काव्य में इनकी गुणों की तरह नियत रूप से आवश्यक स्थिति नहीं है।

आचार्य मम्मट ने कहा है जैसे हारादि अलङ्कारों से पहले कण्ठादि की शोभा बढ़ती है और फिर उनको कण्ठ में धारण करने वाली नारियों और पुरुषों का उत्कर्ष सूचित होता है वैसे ही काव्य के अलङ्कारों से पहले शब्द और अर्थ की शोभावृद्धि होती है तदनन्तर काव्य में विद्यमान रस का उत्कर्ष सूचित होता है। मम्मट का अनुसरण करते हुए विश्वनाथ ने भी अङ्गदादि लौकिक अलङ्कारों का उदाहरण देते हुए इसी बात का प्रतिपादन किया है। साथ ही उन्होनें यह भी स्पष्ट कर दिया है कि काव्य में अलङ्कारों की गुणों की तरह आवश्यक स्थिति नहीं होती है।

---

1. साहित्यदर्पण 10,1 तथा वृत्ति

मम्मट और विश्वनाथ के मतों में अलङ्कारों की वैकल्पिक स्थिति एवं गौणता का प्रतिपादन है। काव्यान्तर्वर्ती रस में इनकी अनिवार्य स्थिति नहीं है। आचार्य मम्मट ने ये रसस्याङ्गिनो धर्माः कहते हुए जैसे गुणों को रस का धर्म बताया है वैसे ही उपकुर्वन्ति तं सन्तं ये कहते हुए अलङ्कारों को भी रस का धर्म बताया है। इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी जैसे गुणों को रस का धर्म बताया है वैसे ही अलङ्कारों को भी रस का धर्म बताया है। दोनों ही रस के धर्म तो हैं पर एक (गुण) को नित्य और दूसरे (अलङ्कार) को अनित्य धर्म कहा है। गुण को अन्तरङ्ग और अलङ्कार को बहिरंग साधन माना है। मम्मट ने गुणों को रस का साक्षात् उपकारक माना है इसके विपरीत अलङ्कारों को शब्दार्थ के माध्यम से रस का असाक्षात् उपकारक कहा है। विश्वनाथ ने भी अलङ्कारों को शब्दार्थ का अस्थिर धर्म माना है। अलङ्कार के सम्बन्ध में प्रतिपादित आचार्य मम्मट का यह मत उनके काव्यलक्षण में कहे गये मत के सर्वथा विपरीत है क्योंकि काव्यलक्षण में अलङ्कारों की अनिवार्यता और अलङ्कारलक्षण में इनकी वैकल्पिकता बताई है।

गोविन्द ठक्कुर तथा सिद्धिचन्द्र गणि का मत

गोविन्द ठक्कुर और सिद्धिचन्द्रगणि ने काव्य में रस और अलङ्कार इन दोनों में से किसी एक की वैकल्पिक स्थिति मानी है। इन दोनों ने काव्य में रस को अलङ्कार का विकल्प और अलङ्कार को रस का विकल्प बताया है।

गोविन्द ठक्कुर ने अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों की भाँति मम्मट के काव्यलक्षण के अनलङ्कृती पद में प्रयुक्त नञ् को अल्पार्थ में लिया है और उसकी अस्फुटत्व में विश्रान्ति मानी है। उनका कहना है कि यदि नीरस और अस्फुटालङ्कार काव्य में भी काव्यत्व मानने लगें तो यह तो बड़ा आसान रास्ता हो जायेगा। उनका अभिप्राय है कि काव्य में रस और अलङ्कारों का समावेश करने में कवि को कड़ा श्रम करना पड़ता है। उसके लिए कवि में काव्यप्रतिभा भी होनी चाहिए। यदि रसादिहीन और अलङ्कारविहीन काव्य बनाना हो तो कोई भी सामान्य व्यक्ति बिना किसी परिश्रम के काव्यनिर्माण में सक्षम हो सकता है। उनकी अपनी यह धारणा है– नीरस और स्फुटालङ्कारविरहित काव्य में काव्यत्व नहीं रहता। क्योंकि रसादि और अलङ्कार ये दोनों काव्य के चमत्कार के कारण होते हैं और जहाँ रसादियों का अवस्थान होता है वहाँ स्फुटालङ्कारों की अपेक्षा नहीं होती। यदि काव्य नीरस और स्फुटालङ्काररहित हो तो वहाँ किसका चमत्कार होगा? काव्य चमत्कारसार रूप है और उसको स्फुटालङ्कार की अपेक्षा होती है। अनलङ्कृती पुनः क्वापि का अभिप्राय

है कि अस्फुटालङ्कार की कहीं कहीं वहीं काव्यता होती है जहाँ रसादि स्फुट रूप से रहता है न कि सब जगह। इसलिए काव्य में स्फुट अलङ्कार या रस में से किसी एक की सत्ता अनिवार्य है। दोनों का रहना जरूरी नहीं है। इसलिए सालङ्कारौ विशेषण पर्याप्त नहीं है। स्फुटालङ्काररसान्यतरवत्त्वं काव्यत्वम् कहना चाहिए।[1] इसलिए आनन्दवर्धन ने कहा है-अलङ्कार के अभाव में रस के अनुरूप अर्थविशेष की रचना काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि करती है जैसे- मुनिर्जयति योगीन्द्रो इत्यादि उदाहरण में बताया है- योगिराज महात्मा अगस्त्यमुनि की जय हो जिन्होंनें एक ही चुल्लू में उन दिव्य मत्स्य और कच्छप अवतारों का दर्शन कर लिया।[2]

इस उदाहरण में अद्भुत रस के अनुकूल एक चुल्लू में मत्स्य और कच्छप का वर्णन अद्भुत रस के सौन्दर्य को बढ़ाता है। यहाँ एक चुल्लू में सम्पूर्ण समुद्र के समा जाने से भी अधिक दिव्य मत्स्य और कच्छप का दर्शन बिलकुल अपूर्व होने से अद्भुत रस के अधिक अनुकूल है।

गोविन्द ठक्कुर का अनुसरण करते हुए काव्यप्रकाशखण्डन के रचयिता सिद्धिचन्द्र गणि ने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है-

---

1. क्वापीत्यनेनैतदुक्तम्-यत् सर्वत्र सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम् क्वचित् स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः नञोऽल्पार्थत्वात् अल्पत्वस्य चात्रास्फुटत्व एव विश्रामात्। नीरसेऽप्यस्फुटालङ्कारे काव्यत्वमिष्टमेवेति ऋजुः पन्थाः। वयं तु पश्यामः- नीरसे स्फुटालङ्कारविरहिणि न काव्यत्वम् यतो रसादिरलङ्काराश्च द्वयं चमत्कारहेतुः तथा च यत्र रसादीनामवस्थानं न तत्र स्फुटालङ्कारापेक्षा। .... नीरसे तु यदि न स्फुटोऽलङ्कारःस्यात्तत् किङ्कृतश्चमत्कारः स्यात्। चमत्कारसारं च काव्यमित्यवश्यं स्फुटालङ्कारापेक्षा। अनलङ्कृती पुनः क्वापीत्यनेनाप्यस्फुटालङ्कारस्य क्वचिदेव काव्यत्वम्। यत्र रसादिः स्फुटः न तु सर्वत्रेत्येतदेव प्रतिपाद्यते तस्मात् सालङ्कारत्वमात्रं न विशेषणम् किन्तु स्फुटालङ्काररसान्यतरवत्त्वम्। काव्यप्रकाश 1,4 काव्यप्रदीप टीका।
2. अतएव ध्वनिकारेणोक्तम्-अतएव रसानुगुणार्थविशेषनिबन्धनमलङ्कारविरहेऽपि छायातिशयं पुष्णाति यथा–
मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ।। वही टीका

अदोषत्वे सति सगुणत्वे च सति स्फुटालङ्काररसान्यतरवत्त्वं काव्यत्वमिति फलितार्थः[1]

दोषहीनता और सगुणता होने पर स्फुटालङ्कार और रस इन दोनों में से किसी एक से युक्त होना काव्यत्व है। उन्होंने स्फुटालङ्कार के विरह के उदाहरण के रूप में मम्मट द्वारा प्रस्तुत यः कौमारहरः इत्यादि उदाहरण को भी काव्य होने के लिए अपनी मान्यता प्रदान कर दी है।

विश्वनाथ ने अलङ्कार की गुणवत् आवशयकी स्थिति न मानकर और वाक्यं रसात्मकं काव्यम् यह काव्यलक्षण स्थापित करके काव्य में अलङ्कारों को अनिवार्य स्थान न देने की वकालत की। सम्भवतः इसी से प्रेरणा ग्रहण करके गोविन्द ठक्कुर और सिद्धिचन्द्र गणि ने काव्य में अलङ्कार और रस में से एक को अनिवार्य तत्त्व माना। अलङ्कार के विकल्प के रूप में रस और रस के विकल्प के रूप में अलङ्कार को प्रस्तुत किया। रस के विकल्प के रूप में अलङ्कार को काव्य मानने का यह प्रमुख आधार है- अलङ्कारवादी आचार्य रसविहीन कविता को भी अलङ्कार के होने पर काव्य मानते हैं। पण्डितराजगन्नाथ ने मम्मट के काव्यलक्षण में गुणालङ्कारादि के निवेश को अनुचित बताया है। क्योंकि उदितं मण्डलं विधोः जैसे उदाहरणों में बिना गुण और अलङ्कार के भी काव्यत्व है। चन्द्रमण्डल का उदय हो गया है इस वाक्य में दूती के लिए अभिसरणविधि है, अभिसारिका के लिए अभिसरण का निषेध है और विरहिणी के लिए जीना कठिन है ऐसा अर्थ है। यहाँ गुण और अलङ्कार नहीं हैं किन्तु रस और काव्य की आत्मा चमत्कार होने से काव्य है।[2]

काव्य में अलङ्कारों की भी उपयोगिता एवं अनिवार्य स्थिति है। यह बात पण्डितराजजगन्नाथ के द्वारा विश्वनाथ के मत के खण्डन से स्पष्ट हो जाती है। पण्डितराज का कहना है कि रसवत् वाक्य ही काव्य होता है यह जो साहित्यदर्पण

---

1. काव्यप्रकाश 1,4 काव्यप्रकाशखण्डनटीका
2. लक्षणे गुणालङ्कारादिनिवेशोऽपि न युक्तः। उदितं मण्डलं विधोः
इति काव्ये दूत्यभिसारिकाविरहिण्यादिसमुदीरितेऽभिसरणविधि-
निषेधजीवनाभावादिपरे ··· न चेदमकाव्यमिति शक्यं वदितुम्।
काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव।
रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण

में निर्णय दिया गया है वह ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर वस्तु और अलङ्कार-प्रधान काव्य अकाव्य हो जायेंगे इससे अलङ्कारवादी महाकवियों के सम्प्रदाय में खलबली मच जायेगी।[1] इसलिए केवल रसप्रधान वाक्य को ही काव्य नहीं मानना चाहिए। काव्य में वस्तु और अलङ्कारों की भी महती उपयोगिता है। इन युक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य में या तो रस का चमत्कार हो अथवा अलङ्कार का हो। इसी आधार पर गोविन्द ठक्कुर और सिद्धिचन्द्र गणि ने स्फुटालङ्कार या रस में से किसी एक की अनिवार्य स्थिति मानी है।

रस और अलङ्कार में से अन्यतर अर्थात् कोई एक ही हो तो काव्यत्व हो जायेगा इसमें इतनी ही सीमा क्यों मानी जाये? यदि गुण, अलङ्कार और रस इन तीनों में से कोई एक ही हो तो भी काव्य मानना चाहिए। गुण और रस का अयुतसिद्ध सम्बन्ध है इसलिए यदि इनमें से एक चला जायेगा तो दूसरा भी अनुपस्थित रह सकता है। काव्य में चमत्कार होना चाहिए वह गुण, रस और अलङ्कार इनमें से किसी के भी द्वारा आ सकता है।

काव्यप्रकाश के टीकाकार रवि ने कहा है चमत्कारजनकं हि काव्यमिह निरूप्यम्।[2] इस संसार में कवि को चमत्कारजनक काव्य की ही रचना करनी चहिए। इसी प्रकार विश्वेश्वर कविचन्द्र ने कहा है कि काव्य में अभिव्यक्त चमत्कार ही सहृदयों के हृदय में आनन्द के प्रवाह को बहाने वाला है। काव्य के गुणादि सात अङ्ग इस चमत्कार के कारण हैं।[3] काव्य में यह सातों अङ्ग चमत्कार को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। ये निमित्त कारण हैं और इनके द्वारा सहृदयनिष्ठ विस्मय नामक स्थायिभाव को जब उद्बुद्ध किया जाता है तो अद्भुत रस निष्पन्न होता है। इन सातों में से कोई एक भी चमत्कार को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखता है।

---

1. यत्तु रसवदेव काव्यम् इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम् तन्न,
   वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः।
   न चेष्टापत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात्।
   रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण
2. काव्यप्रकाश 1,4 मधुमती टीका
3. चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।
   गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।
   सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते जुधाः।।
   चमत्कारचन्द्रिका पृ. 2

इस कारण न केवल रस या अलङ्कार इन दोनों में से एक के रहने से काव्य बना रह सकता है अपितु इन सातों में से किसी एक के द्वारा यदि चमत्कार निष्पन्न किया जा रहा है तो वहाँ भी काव्यत्व रह सकता है।

मम्मटप्रोक्त अलङ्कारसम्बन्धी मतों की समीक्षा

मम्मट ने काव्यलक्षण में अदोष, सगुण और स्फुटालङ्कार अथवा अस्फुटालङ्कार शब्दार्थ को काव्य बताया है। सर्वत्र सालङ्कार अर्थात् स्फुटालङ्कार वाले और कहीं कहीं अस्फुटालङ्कार वाले शब्दार्थ को काव्य मानने में कोई हानि नहीं होती।[1] काव्यप्रकाश के टीकाकारों की टीकाओं के अध्ययन से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मम्मटप्रतिपादित इस काव्यलक्षण में काव्य के भीतर रस और गुण की तरह स्फुटालङ्कार और अस्फुटालङ्कार दोनों ही प्रकार के अलङ्कारों की उपस्थिति अनिवार्य और अपरिहार्य रूप से स्वीकार की गई है।

और जो (काव्य में) विद्यमान उस (अङ्गी रस) को (शब्द और अर्थ रूप) अङ्गों के द्वारा (नियमेन अथवा सर्वथा नहीं अपितु कभी कभी) उपकृत करते हैं वे अनुप्रास और उपमादि (शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार शरीर के शोभाधान द्वारा परम्परया शरीरी आत्मा के उत्कर्षजनक) हार आदि (दैहिक अलङ्कारों) के समान काव्य के अलङ्कार होते हैं। शब्द तथा अर्थ रूप अङ्गों के उत्कर्ष द्वारा जो (काव्य में यदि सम्भव हो तो उस) विद्यमान मुख्य रस को उपकृत करते हैं (उसके उत्कर्षाधायक होते हैं) वे कण्ठादि अङ्गों के उत्कर्ष द्वारा शरीरी (आत्मा) के भी (परम्परया) उत्कर्षाधायक शरीरादि के समान अलङ्कार कहलाते हैं।[2]

1. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।
क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कार-
विरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। काव्यप्रकाश 1,4 एवं वृत्ति

2. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।
ये वाचकवाच्यलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति
ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका
हारादय इव अलङ्काराः। काव्यप्रकाश 8,67 एवं वृत्ति

प्रथम उल्लास में काव्यलक्षण का निरूपण करते हुए जो मम्मट काव्य में गुण, रस और स्फुटालङ्कार अथवा अस्फुटालङ्कार को काव्य के अनिवार्य एवं अपरिहार्य तत्त्व बता रहे हैं वही मम्मट अष्टम उल्लास में अलङ्कार का लक्षण प्रस्तुत करते समय काव्य के अनिवार्य और अपरिहार्य तत्त्व गुण और रस के साथ अलङ्कार की अनिवार्य स्थिति मानने से इनकार कर रहे हैं। वे गुणों की अचलस्थिति और अलङ्कारों की चलस्थिति बता रहे हैं। गुणों को रस का साक्षात् उपकारक मानते हैं और उनसे उपकृत रसों के आश्रयभूतशब्दार्थ को काव्य मान रहे हैं। इसके विपरीत अलङ्कारों को शब्दार्थ के उपकार द्वारा रसों का असाक्षात् उपकारक मानते हैं। इस प्रकार वे प्रथम उल्लास में अलङ्कारों की अनिवार्यता स्थापित करके अष्टम उल्लास में उनकी वैकल्पिकता का प्रतिपादन कर रहे हैं। मम्मट के अलङ्कारसम्बन्धी मतों के निम्नलिखित दो प्रकार हैं-

1. अलङ्कारों की काव्य में नित्यधर्मता- मम्मटप्रोक्त काव्यलक्षण के अनुसार अलङ्कार काव्य में गुण और रस की भाँति काव्य के नित्य धर्म हैं।

2. अलङ्कारों की काव्य में अनित्यधर्मता -मम्मटोक्त अलङ्कारलक्षण के अनुसार अलङ्कार काव्य के अनित्य धर्म हैं।

प्रथम मतको स्वीकार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि गुणों की तरह अलङ्कार भी शब्दार्थ में रहने वाले काव्यात्मभूतरस में समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। इस कारण वे रस के नित्य धर्म हैं। वे काव्य के अन्तरङ्ग हैं। जैसे शरीर में विद्यमान आत्मा के शौर्यादि गुण नित्य और अन्तरङ्ग तत्व हैं उसी प्रकार अलङ्कार काव्य के आत्मभूत रस के नित्य एवं आन्तरिक तत्त्व हैं।

परन्तु दूसरे मत को स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जब गुण और अलङ्कार दोनों ही रस के धर्म हैं तो एक को नित्यधर्म और दूसरे को अनित्यधर्म कहना कहाँ तक उचित है? एक की समवायसम्बन्ध से स्थिति और दूसरे की संयोगसम्बन्ध से स्थिति माननी काल्पनिक तथा तर्कहीन है। एक को अन्तरङ्ग और दूसरे को बहिरङ्ग कहना भी निराधार है। बहिरङ्ग तो सिर्फ साधन होते हैं धर्म नहीं। अग्नि का उष्णत्व धर्म तो अग्नि के भीतर रहता है बाहर नहीं। मम्मट और विश्वनाथ ने एक रस और भावादि के दूसरे रस या भावादि के अङ्ग बन जाने पर रसवत् और प्रेयस् अलङ्कार माना है ऐसे स्थलों पर क्या अङ्गभूत रस या भाव बाह्य वस्तु हैं? अङ्गाङ्गिभाव वाले दोनों ही तत्त्व अन्तरङ्ग ही होते हैं बहिरङ्ग नहीं। अङ्गभूत रसादि शरीरस्थ कटककुण्डलादि की तरह काव्य

के बहिरङ्ग नहीं अपितु अन्तरङ्ग हैं। मम्मट ने सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तुस्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः कहकर कहीं कहीं अस्फुटालङ्कारशब्दार्थ में भी काव्यत्व माना है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि अधिकांश स्थलों में तो स्फुटालङ्कारसहित शब्दार्थ काव्य होता है पर एकाध जगह जब अस्फुटालङ्कार होता है तो वह भी काव्य होता है। इस प्रकार अलङ्कार का काव्य के साथ अयुतसम्बन्ध या नियतसम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यदि कहीं स्फुटालङ्कार नहीं भी हो तो भी वक्रोक्ति जैसे अस्फुटालङ्कार तो होते ही हैं यः कौमारहरः इसका उदाहरण है। इसमें विभावना, विशेषोक्ति, सन्देहसङ्कर और वक्रोक्ति अस्फुट अलङ्कार के रूप में विद्यमान है।

आचार्य आनन्दवर्धन का कहना है- काव्यसृजन के समय कवि के हृदय में आने के लिए कुछ अलङ्कार परस्पर होड़ लगाने लगते हैं। ये स्वतः स्फूर्त होने लगते हैं और कवि को इनको लाने के लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता यह अहम्पूर्विकतया परापतन उचित भी है क्योंकि रसों की अभिव्यञ्जना वाच्यविशेष से ही होती है और उन वाच्यविशेषों के प्रतिपादक शब्दों से उन रसों के प्रकाशक रूपकादि अलङ्कार उन शब्दों से प्रकाशित वाच्यविशेष ही हैं। इसलिए रस की अभिव्यक्ति में उन रूपकादि अलङ्कारों की बहिरङ्गता नहीं है। यमकादि के दुष्कर मार्ग में तो बहिरङ्गता निश्चित ही है।[1] इस प्रकार उन्होंने रूपकादि अलङ्कारों की अन्तरङ्गता स्वीकार की है केवल यमकादि कुछ अलङ्कारों को ही उन्होंने बहिरङ्ग माना है। इन अलङ्कारों का वाच्यदशा की तुलना में व्यङ्ग्यदशा में अधिक महत्त्व होता है।

जब इन अलङ्कारों की प्रतीति व्यञ्जना से होती है तो ये निश्चित रूप से रसध्वनि का अङ्ग बन जाते हैं[2]। आचार्य आनन्दवर्धन के इस कथन से इस की पुष्टि हो जाती है कि अलङ्कार रसध्वनि के आन्तरिक तत्त्व हैं। ये अलङ्कार रसध्वनि का अङ्ग बनकर उसके साथ एकाकार होकर अतिशय (चमत्कार) का आधान कर देते हैं। पण्डितराजजगन्नाथ विरचित पद्य में उनकी प्रेमिका लवङ्गी का वर्णन

1. ....अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकतया परापतन्ति।------ युक्तं चैतत्। यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः। तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसनिष्पत्तौ यमकदुष्करमार्गेषु तु तत्स्थितमेव।
ध्वन्यालोक 1,16 वृत्तिभाग

2. शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गताङ्गताः॥
व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥ वही 2,28-29

इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा

कुसुम्भारुणं चारु चेलं वसाना।

समस्तस्य लोकस्य चेतः प्रवृत्तिं

गृहीत्वा घटे न्यस्य यातीव भाति॥

मानों यह लवङ्गी सब लोगों के चित्त में उमड़े प्रेमप्रवाह रूपी जल को घड़े में डालकर अपने साथ ले जा रही है। इस रूपक और उत्प्रेक्षा में अतिशय (चमत्कार) है और ये अलङ्कार शृङ्गाररसध्वनि का अङ्ग बन रहे हैं। इसलिए अलङ्कारों को काव्य का बहिरङ्ग साधनमात्र मानने से काम नहीं चलेगा। लौकिक अलङ्कारों को तो बहिरङ्ग माना जा सकता है किन्तु काव्य के अलौकिक अलङ्कारों को नहीं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सभी अलङ्कार अन्तरङ्ग होते हैं बहिरङ्ग होते ही नहीं। जो प्रयत्ननिर्वर्त्य हैं और भावोद्रेक, रागात्मक अनुभूतियों में सहायक नहीं होते प्रत्युत भावपक्ष की उपेक्षा करके केवल अपनी कलानैपुणी बताने के लिए बाहर से लाद दिये जाते हैं वे स्पष्टतः बहिरङ्ग ही हैं।

अलङ्कारों की रसों के साथ अन्तरङ्गता को सिद्ध करने के लिए भट्टोद्भट का अभेदवादी दृष्टिकोण भी परम सहायक है। इनके मत में गुण और अलङ्कारों में कोई भेद नहीं है। लौकिक गुण तथा अलङ्कारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलङ्कारों का शरीरादि के साथ संयोगसम्बन्ध होता है और शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ संयोगसम्बन्ध नहीं होता अपितु समवायसम्बन्ध होता है इसलिए लौकिक गुण तथा अलङ्कारों में भेद माना जा सकता है। परन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रासयमकादि अलङ्कार दोनों की समवायसम्बन्ध से स्थिति होती है इसलिए इस दृष्टि से काव्य में उनके भेद का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। वस्तुतः गुणों और अलङ्कारों में भेद नहीं हैं उनमें जो लोग भेद मानते हैं वह भेड़ चाल है कुछ लोगों ने भेद कर दिया तो उन्होंने बिना सोचे समझे भेद मानना आरम्भ कर दिया।[1]

1. एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः। ओजःप्रभृतीनाम् अनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः इत्यभिधानमसत्। काव्यप्रकाश ४,67 वृत्तिभाग

भट्टोद्भट के मत की व्याख्या करते हुए गोविन्द ठक्कुर का भी कहना है कि लौकिक गुणालङ्कारों में तो समवेतत्व और संयोगत्व रूप भेद देखा जा सकता है। किन्तु अलौकिक (काव्यगत) गुणों और अलङ्कारों में ये भेद अनुपपन्न है।[1]

अलङ्कारों की बहिरङ्गता का निषेध करते हुए प्रसिद्ध समीक्षक डा० वी० राघवन् का कथन है-

Such figures can hardly be considered extrinsic (Bahiraṅga) in Kāvya and comparable only to the armlets (Kaṭaka and Keyūra) the removable ornaments lamkaras should properly be compared to the Alaṅkāras of damsels which Bharata speaks of under Sāmānyābhinaya, Bhāva, Hāva etc. i.e. graces of a lady and not to the external jewels like the Kaṭaka and Keyūra.[2]

काव्य में विद्यमान ऐसे (शब्दगत और अर्थगत) अलङ्कार बहिरङ्ग नहीं माने जा सकते और न ही वे हटा सकने योग्य कटक (कड़े) और केयूर (बाजूबन्द) सरीखे (लौकिक) अलङ्कारों के साथ तुलना करने योग्य हैं। इसके विपरीत इनकी उपमा नायिकाओं के उन अलङ्कारों के साथ उचित ढंग से की जानी चाहिए जिनको भरत ने (नाट्यशास्त्र के) सामान्याभिनय प्रकरण के अन्तर्गत भाव, हाव इत्यादि नामों से अभिहित किया है न कि कटक और केयूर के साथ।

डॉ. राघवन् के इस कथन से यह स्पष्ट है कि काव्यगत उपमादि अलङ्कारों की समानता लौकिक कटक, केयूर और हारादि के साथ नहीं करनी चाहिए अपितु नायिकाओं के अलङ्कारों अर्थात् उनके अङ्गहारादि (हाव, भाव और बिब्बोक आदि चेष्टाओं) के साथ करनी चाहिए। क्योंकि शरीर में हारादि तो संयोगसम्बन्ध से रहते

---

1. तदेवं गुणालङ्कारयोर्भेदे व्यवस्थिते यत्कैश्चिदुक्तं लौकिकयो र्गुणालङ्कारयो: शौर्यादिहाराद्यो: समवेतत्वसंयोगित्वाभ्यां भेद: सम्भवति अलौकिकयो-र्माधुर्याद्यनुप्रासोपमाद्योरुभयोरपि समवेतत्वादनुपपन्नो भेदस्तस्मात्तयो-र्भेदाभिधानं गड्डलिकाप्रवाहन्यायेन।
काव्यप्रकाश 8,67 काव्यप्रदीपटीका
2. Studies on Some Concepts of Alaṃkaraśāstra (Dr. V. Raghavan) Chapter II use and abuse of Alamkar pp. 57, and 58.

हैं किन्तु आन्तरिक भाव गुणों की तरह समवायसम्बन्ध से रहते हैं। अतः हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः जैसे प्रयोग अनुचित हैं। यदि हार शब्द का प्रयोग अङ्गहार रूप नायिका के हाव भावादि अर्थ में किया जाता है तो यह असङ्गति दूर हो जायेगी और तब इनका रस के साथ समवायसम्बन्ध माना जा सकेगा। भरत-नाट्यशास्त्र में सामान्याभिनय के प्रकरण में बताया गया है कि नायिकाओं के भावों में रहने वाले कुछ मानसिक आन्तरिक विकार होते हैं जो उनके अलङ्कार कहलाते हैं।[1] इस सम्बन्ध में आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा ने भी डॉ. राघवन् से मिलते जुलते विचार प्रकट किये हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने जो यह बताया है कि काव्य में अलङ्कारों की स्थिति वह है जो पुरुष शरीर के कण्ठादि अङ्गों में स्थित हार की होती है तो उनका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि हार तो शरीर से पृथक् होता है और उसके भीतर भी नहीं रहता है। किन्तु काव्यगत अलङ्कार की यह स्थिति नहीं होती वह तो काव्य के भीतर रहने वाला अविभाज्य तत्त्व है।[2]

मम्मटप्रतिपादितगुणालङ्कारलक्षणों की समीक्षा

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में गुणों और अलङ्कारों के लक्षण इस प्रकार बताये हैं- ·

1. **गुणलक्षण-** ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
   उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।

---

1. सामान्याभिनयो ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः।
   अलङ्काराश्च सत्त्वस्था ज्ञेया भावसमाश्रयाः।
   यौवनेऽभ्यधिकाः स्त्रीणां विकारा वक्त्रगात्रजाः।।
   आदौ त्रयोऽङ्गजाः प्रोक्ताः दश स्वाभाविकास्तथा।
   अयत्नजास्तथा सप्त रसभावोपबृंहिताः।।
   भावो हावश्च हेला च परस्परसमुत्थिताः।।
   सत्त्वभेदा भवन्त्येते शरीरे प्रकृतिस्थिताः।।
   भरतनाट्यशास्त्र ;,1, 4.5 -6
2. हारादिवदलङ्कारा इत्युक्तं ध्वनिवादिभिः।
   शरीरादृधि पृथग्हारो नेयं स्थितिरलङ् कृतेः।। काव्यालोक पृ0 29

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् ।... माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितै र्वर्णै र्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः।[1]

आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान प्रधान (काव्य के आत्मभूत) रस के जो अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं।

जैसे शौर्यादि धर्म आत्मा के ही होते हैं शरीर के नहीं। इसी प्रकार माधुर्यादि गुण रस के ही धर्म होते हैं वर्णों के नहीं। ये माधुर्यादि गुण उपयुक्त वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं और किन्हीं वर्णविशेषों में ही रहते हैं। ये हर प्रकार के वर्णों या पदों में नहीं रहते हैं।

अलङ्कारलक्षण – उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।

ये वाचकवाच्यलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः।[2] जो काव्य में विद्यमान उस अङ्गी रस को (शब्द तथा अर्थ रूप) अङ्गों द्वारा कभी कभी उपकृत करते हैं वे अनुप्रास और उपमादि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार हारादि दैहिक अलङ्कारों के समान काव्य के अलङ्कार होते हैं। शब्द तथा अर्थ रूप अङ्गों के उत्कर्ष द्वारा जो विद्यमान मुख्य रस को उपकृत करते हैं वे कण्ठादि अङ्गों के उत्कर्षाधान द्वारा शरीरी (आत्मा) के भी उत्कर्षाधायक हारादि के समान अलङ्कार कहलाते हैं।

मम्मट के काव्यलक्षण और गुणलक्षण में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है। यहाँ मम्मट के ऊपर अप्रत्यक्षतया भट्टोद्भट के इस गुणालङ्कारविषयक अभेदवाद के सिद्धान्त का विशेष प्रभाव पड़ा है। वे मानते हैं कि गुण और अलङ्कारों में आपस में कोई तात्त्विक भेद नहीं है क्योंकि ये दोनों ही समवायसम्बन्ध से रस में रहते हैं और रस काव्य में रहता है। यह भेद लौकिक अलङ्कारों और गुणों में तो देखा जाता है क्योंकि हारादि अलङ्कार तो कण्ठादि के साथ संयोगसम्बन्ध से रहते हैं और शौर्यादि गुण समवायसम्बन्ध से आत्मा में रहते हैं। परन्तु काव्य में ओज आदि गुण तथा

1. काव्यप्रकाश 8,66 एवं वृत्ति
2. काव्यप्रकाश 8,67 एवं वृत्तिभाग

अनुप्रास, यमक, उपमादि अलङ्कार दोनों की ही समवायसम्बन्ध से स्थिति होती है। इसके साथ ही वामन के गुणों के नित्यत्ववाद का भी प्रभाव है।[1]

परन्तु मम्मट के गुणलक्षण और अलङ्कारलक्षण में अन्तर्विरोध दीखता है। काव्यलक्षण में अलङ्कार गुण की तरह अचलस्थिति माना है किन्तु अलङ्कारलक्षण में वह चलस्थिति बन गया है। अब समस्या सामने आती है कि क्या मम्मट के काव्यलक्षण में प्रतिपादित अलङ्कार की काव्यगत नित्यधर्मता (अचलस्थिति) को माना जाये अथवा अलङ्कारलक्षण में बताई गई अनित्यधर्मता (चलस्थिति) को स्वीकार किया जाये? आचार्य मम्मट की सङ्ग्रहप्रवृत्ति से यह जटिल स्थिति उत्पन्न हुई है। इन्होंने अलङ्कारलक्षण में अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों से कुछ अलग अलग तत्त्व ले लिये हैं किन्तु यहाँ उनका समन्वय ठीक प्रकार नहीं हो पाया है। मम्मट से पहले काव्य में अलङ्कारों की स्थिति के विषय में तीन मत प्रचलित थे। उनके अध्ययन से यह विसङ्गति स्पष्ट हो जाती है–

1. **भट्टोद्भट का मत**

इनके मत का उल्लेख माणिक्यचन्द्र ने इस प्रकार किया है–

शब्दार्थालङ्काराणां गुणवत् समवायेन स्थितिःगड्डरिकाप्रवाहेण तु गुणालङ्कारभेदोक्तिः॥ इतिभामहवृत्तौ भट्टोद्भटेन भणनमसत्॥[2]

(शब्दार्थरूप काव्य) और अलङ्कारों की गुण की तरह समवायसम्बन्ध से स्थिति होती है अर्थात् जैसे गुण शब्दार्थ (रूप काव्य) के भीतर समवायसम्बन्ध से रहते हैं। ठीक वैसे ही अलङ्कार भी समवायसम्बन्ध से शब्दार्थरूप काव्य में रहते हैं। किन्तु गुण समवायसम्बन्ध से रहते हैं और अलङ्कार संयोगसम्बन्ध से रहते हैं–इस प्रकार की गुण और अलङ्कार विषयक भेदोक्ति गड्डरिकाप्रवाह (भेड़ चाल) से चल पड़ी है। भामहविवरण में भट्टोद्भट का यह कहना ठीक नहीं है।

आचार्य मम्मट ने भी भट्टोद्भट की इस उक्ति का सारांश ग्रहण करके शब्दों को बदल कर उनके मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

---

1. पूर्वे नित्याः।
   पूर्वे गुणाः नित्याः तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।
   काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति 3,13
2. काव्यप्रकाश 8, 67 सङ्केतटीका

समवायवृत्त्या शौर्यादिय: संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेद: ओज: प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति xMMfjd kçokgsksSkaHks% bR; fHk/ kuel rA[1]

इस प्रकार भट्टोद्भट ने जो गुण तथा अलङ्कार के अभेद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि (लोक में) शौर्य आदि (गुण आत्मा रूप गुणी में) समवायसम्बन्ध से और हारादि (रूप अलङ्कार शरीर में) संयोगसम्बन्ध से सम्बद्ध रहते हैं इसलिए (सम्बन्धभेद के आधार पर लौकिक) गुणों तथा अलङ्कारों का भेद भले ही मान लिया जाये परन्तु (काव्य में तो) ओज इत्यादि (गुणों तथा) अनुप्रास, उपमा आदि (शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार) दोनों की समवायसम्बन्ध से स्थिति रहती है। इसलिए इनमें भेद मानना भेड़ चाल है। वास्तव में गुण और अलङ्कार में कोई भेद नहीं है। (भट्टोद्भट) का यह कहना असङ्गत है।

यहाँ उल्लेखनीय यह बात है कि मम्मट ने इस मत के खण्डन के लिए कोई युक्ति नहीं दी है। केवल इसे असत् कह कर इसकी उपेक्षा कर दी है। इस प्रकार आचार्य उद्भट ने गुण एवं अलङ्कार दोनों का काव्य के साथ समवाय (नित्य) सम्बन्ध माना है। उनके अनुसार गुणों को शौर्यादि के समान समवायवृत्ति वाला और अलङ्कारों को हारादि के समान संयोगवृत्ति वाला मानना अनुचित है। क्योंकि शौर्यादिगुण एवं हारादि आभूषण लौकिक हैं अत: इनमें तो भेद माना जा सकता है। किन्तु काव्यगत गुण और अलङ्कार अलौकिक होते हैं उनके साथ साम्य के आधार पर इस दृष्टान्त को देना अनुचित है।

काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने भट्टोद्भट के इस मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है लौकिक शौर्यादिगुण और हारादि अलङ्कारों के भीतर समवेतत्व (समवाय) और संयोगित्व (संयोग) सम्बन्ध के कारण भेद हो सकता है किन्तु अलौकिक माधुर्यादिगुण और अनुप्रासोपमादि (अलङ्कार) इन दोनों में समवेतत्व (समवाय) सम्बन्ध के कारण भेद असङ्गत है। इस कारण इन दोनों के भीतर भेद कहना गड्डलिकाप्रवाहन्याय से होता है। इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं-गड्डलिका (भेड़) होती है। जब एक भेड़ किसी कारण से आगे की ओर जाती है तो दूसरी भेड़ उस कारण का विचार किए बिना ही उसी

1. काव्यप्रकाश 1,4 वृत्ति

भेड़ के पीछे चल पड़ती है। ठीक वैसे ही किसी अज्ञात अल्पज्ञ व्यक्ति के द्वारा गुण और अलङ्कारों को किसी अभिप्राय से भिन्न कह देने पर दूसरे लोग भी किसी विशेष कारण का विचार किये बिना उनका अनुसरण करते हुए भेद बोल देते हैं।[1]

वामन का मत

वामन गुणों को नित्य या अपरिहार्य मानते हैं क्योंकि उनके बिना काव्य की शोभा नहीं उत्पन्न हो सकती। पर अलङ्कार अपरिहार्य नहीं है उनका कहना है कि शब्दार्थों के जो धर्म काव्य की शोभा को करते हैं वे गुण कहलाते हैं और वे ओज प्रसादादि ही हैं यमक और उपमादि नहीं।[2] अर्थात् यमक और उपमादि काव्य की शोभा को पैदा नहीं करते उनके बिना भी काम चल जाता है। असल में तो काव्यशोभा को करने वाले गुण ही हैं।

आनन्दवर्धन का मत

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कहा है- जो उस प्रधानभूत रस का अवलम्बन करते हैं (रस के आश्रय में रहते हैं) वे गुण कहलाते हैं और जो उसके अङ्ग शब्द तथा अर्थ के आश्रित रहते हैं उनको कटककुण्डलादि के समान अलङ्कार मानना चाहिए।[3] इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य ने गुणों को रसाश्रित और अलङ्कारों को शब्द और अर्थ के आश्रित धर्म मानकर उनका परस्पर भेद बताया है।

---

1. लौकिकयो र्गुणालङ्कारयोः शौर्यादिहाराद्योः समवेतत्वसंयोगित्वाभ्यां भेदः सम्भवति। अलौकिकयो र्माधुर्याद्यनुप्रासोपमाद्योरुभयोरपि समवेतत्वादनु-पपन्नो भेदः। तस्मात्तयो र्भेदाभिधानं गड्डलिकाप्रवाहन्यायेन। तथाहि- गड्डलिका मेषी काचिदेका केनचिद्धेतुना पुरो गच्छति इतरास्तु विनैव निमित्तविचारं तामनुगच्छन्ति तथा केनाप्यालङ्कारिकेण गुणालङ्कारौ केनचिदभिप्रायेण भिन्नतयोक्तौ। इतरे तु हेतुविचारं विनैव तदनुसारेण तद्भेदं वदन्तीति। काव्यप्रकाश 8,67 काव्यप्रदीपटीका
2. (क) पूर्वे गुणा नित्याः तै र्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।
(ख) ये खलु शब्दार्थयो र्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते च ओजःप्रसादादयः न यमकोपमादयः।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति 3,1,1-2
3. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।।
ध्वन्यालोक 3,6 वृत्तिभाग

आचार्य कुन्तक ने सालङ्कारशब्दार्थ की काव्यता और अपृथग्योगता मानी है।[1]

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त मतों में से पहले भट्टोद्भट के मत का उपयोग अपने अलङ्कारलक्षण में नहीं किया है करते भी कैसे? उन्होंने भट्टोद्भट के मत को बिना कोई युक्ति दिये अमान्य ठहरा दिया है। यहीं वे गलती कर गये। यदि गुणों की तरह अलङ्कारों का भी समवायवृत्ति से सम्बन्ध मान लेते तो उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये काव्यलक्षण और अलङ्कारलक्षण में अन्तर्विरोध नहीं आता। भट्टोद्भट के अभेदवादी पक्ष का काव्यलक्षण में तो अप्रत्यक्ष रूप से भरपूर उपयोग हुआ है। क्योंकि वहाँ उन्होंने गुण और अलङ्कार इन दोनों की स्थिति काव्य में स्वीकार कर ली है। वामन के मत से गुणों की अपरिहार्यता (नित्यता) का ग्रहण और आनन्दवर्धन के मत से गुणों की रसधर्मता तथा अलङ्कारों की शब्दार्थधर्मता को लेकर इन दोनों का सम्मिश्रण कर गुण और अलङ्कार के भेद को स्पष्ट किया है। वामनप्रोक्त अलङ्कारों की अनित्यता और आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित अलङ्कारों की बहिरङ्गता को मम्मट ने अपने अलङ्कारलक्षण में समाविष्ट करके एक ऐसी परम्परा का श्रीगणेश कर दिया जिसके कारण काव्यक्षेत्र में अलङ्कारों की चमक दमक और वर्चस्वता समाप्त हो गई। मम्मटोत्तरयुग में उनका अलङ्कारविषयक मत सर्वमान्य सा हो गया। विश्वनाथ ने भी कह दिया कि काव्य में अलङ्कारों की गुणवत् आवश्यक स्थिति नहीं होती। किन्तु गोविन्दठक्कुर और सिद्धिचन्द्र गणि ने अलङ्कारों के गौरव को फिर से स्थापित किया। उन्होंने काव्य में रस और अलङ्कार इन दोनों में से किसी एक की स्थिति अनिवार्य मानी है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य मम्मट द्वारा प्रस्तुत अलङ्कारलक्षण में थोड़ा संशोधन किया जाना चाहिये। विशेष रूप से रस के साथ उनके संयोगसम्बन्ध के स्थान पर समवायसम्बन्ध को जोड़ना चाहिए। यदि लौकिक अलङ्कारों के साथ काव्यगत अलङ्कारों का साम्य न भी दिखाया जाय तो भी कोई

---

1 अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्का स्य काव्यता
सालङ्कारस्य काव्यता न पुन: काव्यस्यालङ्कारयोग इति व. जी. 1,6 तथा वृत्ति।

2. (क) तस्मात्सालङ्कारमात्रं न विशेषणं किन्तु स्फुटालङ्काररसान्यतरवत्त्वम्।
काव्यप्रकाश 1,4 काव्यप्रदीपटीका

(ख) अदोषत्वे सति सगुणत्वे सति रसालङ्कारयो-
रन्यतरवत्त्वं काव्यत्वमिति फलितार्थ:।।
काव्यप्रकाश टीका 1,4 काव्यप्रकाशखण्डन

हानि नहीं होगी। रूपक या पूर्णोपमा में तो सभी तत्त्वों की तुलना होती है किन्तु निरङ्गरूपक और लुप्तोपमा आदि में सारे तत्त्व नहीं बताये जाते। मम्मटप्रोक्त अलङ्कार के लक्षण का संशोधित रूप इस प्रकार का हो सकता है–

उपकुर्वन्ति तं नित्यं समवायेन संस्थिताः।
हावादिदिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

यहाँ अङ्गद्वारेण जातुचित् और हारादिवद् इन दोनों पदों को बदल दिया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने बताया है कि अलङ्कारों का समावेश बिना किसी विशेष प्रयत्न के करना चहिये। जैसे शौर्यादिधर्मों की पुरुषशरीर में उपयोगिता बताई है वैसे ही गुणों की काव्य में स्थिति बताई गयी है। अलङ्कारों को भी बराबरी का दर्जा देते हुए गुणों की श्रेणी में रखा जा सकता है और उनको भी काव्य का आन्तरिक धर्म माना जा सकता है। यह जरूरी नहीं कि काव्य के सभी तत्त्वों की पुरुष शरीर के सभी तत्त्वों के साथ तुलना की जाये। जब अलङ्कार काव्य के बाह्य तत्त्व ही नहीं हैं तो उनकी कटककुण्डलादि के साथ क्यों तुलना की जाये? आनन्दवर्धन के कटककुण्डलादिवत् को न लेकर अपृथक्यत्ननिर्वर्त्य विशेषण को इसलिए लेना चाहिए क्योंकि जब अलङ्कार स्वाभाविक रूप में आते हैं तो वे रस के अङ्ग (धर्म) बन जाते हैं अन्यथा वे बहिरङ्ग भी होते हैं।

यदि लौकिक अलङ्कारों के स्थान पर भरतप्रोक्त सामान्याभिनय के उपयोगी स्त्रियों के हाव भाव आदि अलङ्कार माने जायें तो भी उनकी स्थिति समवायसम्बन्ध से रस में मानी जा सकती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है–

आह्लादयन्त्यलङ्काराः काव्यनाटकसंस्थिताः।
चमत्कुर्वन्ति चित्ते ते ह्यङ्गहारा नटीगताः॥

चमत्कृतिजनकत्वमलङ्कारत्वम्–अलङ्कार चमत्कार का जनक है।

वस्तुतः अलङ्कार का यही स्वरूप इन आचार्यों के कण्ठ का हार बन गया है। इन नायिकाओं के हाव भाव रूप अङ्गहारों की उनके कण्ठों मे रहने वाले हारों के साथ कोई भी समानता नहीं हैं। क्योंकि उनके कण्ठ में विराजमान संवेदन-शून्यहारों का कण्ठ के साथ संयोगसम्बन्ध होता है। इसके विपरीत नायिकाओं के अङ्गहार उनके मुखादि अङ्गों में समवायसम्बन्ध से रहते हैं और उनका संचालन सूक्ष्मेन्द्रियों और मन के द्वारा शरीर के भीतर से होता है।

डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा (1923 ई.) का कहना है– ध्वनिवादी आचार्यों ने जो

यह कहा है कि अलङ्कारादि हारादि की तरह होते हैं यह ठीक नहीं हैं क्योंकि हार तो शरीर से पृथक् रहता है शरीर से बाहर इसकी स्थिति है किन्तु काव्य के अलङ्कारों की यह स्थिति नहीं हैं। ये तो काव्य के भीतर ही रहते हैं।[1]

कुवलयानन्द के टीकाकार वैद्यनाथ ने अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है-

अलङ्कारत्वञ्च रसादिभिन्नव्यङ्ग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या विषयितासम्बन्धावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता तदवच्छेदकत्वम्।[2]

रसादि से भिन्न और व्यङ्ग्य से भिन्न अर्थात् वाच्य होने पर शब्द और अर्थ में रहने वाली जो विषयितासम्बन्ध से अवच्छिन्न चमत्कृतिजनकता की अवच्छेदकता उसका धर्म अवच्छेदक ही अलङ्कार है। इनके मतानुसार शब्दज्ञान (श्रावणप्रत्यक्ष) और अर्थज्ञान (शाब्दबोध) ही चमत्कारजनक होता है। अनुप्रासादिविशिष्टशब्दज्ञान अथवा उपमादिविशिष्ट अर्थज्ञान होने पर आत्मा में चमत्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार उन्होंने अलङ्कार का सम्बन्ध सीधे ही आत्मनिष्ठ चमत्कार के साथ जोड़ा है। इससे अलङ्कार की चमत्कारतत्त्व के साथ अन्तरङ्गता अर्थात् काव्य के अन्तस्तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठापना होती है। अलङ्कार अस्थिर धर्म है ऐसा बिलकुल नहीं कहा है।

इसी प्रकार आचार्य देवशङ्कर पुरोहित ने भी अलङ्कार का सीधा सम्बन्ध आत्मा के साथ जोड़ा है। अपने काव्यलक्षण में उन्होंने बताया है-

अनुप्रासाद्यलङ्कारविशिष्टशब्दार्थज्ञान समवायसम्बन्ध से आत्मा में चमत्कारजनक होता है अर्थात् चमत्कृति सुखविशेष आत्मा में समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होती है क्योंकि गुणगुणी का समवायसम्बन्ध होता है। इसलिए चमत्कृतिजनकता को समवायसम्बन्धावच्छिन्न कहा गया है।[1]

---

1. हारादिवदलङ्कारा इत्युक्तं ध्वनिवादिभिः।
   शरीराद्धि पृथग्घारो नेयं स्थितिरलङ्कृतेः।।
   काव्यसत्यालोक पृ. 29
2. अलङ्कारचन्द्रिका (कुवलयानन्दचन्द्रिका) , पृ. 2
3. यद् वा इतराङ्गीभूतरसभावभिन्नव्यङ्ग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतर-
   निष्ठा या समवायसम्बन्धावच्छिन्नचमत्कृतिजनकतानिरूपिता विषयिता
   सम्बन्धावच्छिन्नावछेदकता तदवच्छेदकत्वं काव्यालङ्कारस्य लक्षणम्।
   अलङ्कारमञ्जूषा पृ० 241

काव्यगत अलङ्कार के दो अवच्छेदक (धर्म) बताये हैं। चमत्कृतिजनकता (कारणता) और चमत्कृति (कार्य) ये दोनों ही समवायसम्बन्धावच्छिन्न हैं। इस प्रकार ये आचार्य भी अलङ्कार का आत्मस्थानीय चमत्कारतत्त्व के साथ समवायसम्बन्ध को स्वीकार करते हैं।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि काव्य की आत्मा रस के साथ अलङ्कारों का गुण की तरह समवायसम्बन्ध है संयोगसम्बन्ध नहीं। उत्तरवर्ती जिन कतिपय आचार्यों ने इनका सम्बन्ध काव्य के आत्मभूत चमत्कारतत्त्व के साथ बताया वे भी समवायसम्बन्ध से उसके साथ इनका सम्बन्ध मानते हैं। मम्मटोत्तरयुग में अलङ्कार का स्वरूपलक्षण चमत्कृतिजनकत्वम् अलङ्कारत्वम् के रूप में विकसित हो गया। भले ही यह अलङ्कार शब्दार्थ के माध्यम से अपने द्वारा उत्पन्न चमत्कार से रस का उपकार करे अथवा स्वयं अपने चमत्कार से अपने आप को उपकृत करे। ये अलङ्कार अपने आश्रय रसादि में किस सम्बन्ध से रहते हैं इसमें तो मतभेद हो सकता है किन्तु यह निर्विवाद है कि ये शब्द, अर्थ, रस एवं भावादि में संसक्त, संश्लिष्ट एवं अविभक्त होकर रहते हैं वाच्यालङ्कारों की तुलना में व्यङ्ग्यालङ्कारों की अधिक महत्ता मानी गई है।[1] इसीलिए महाकवियों और आचार्यों ने अपने काव्यों और ग्रन्थों में इनको अनिवार्य मानकर इनको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों ने इन अलङ्कारों का महत्त्व रसभावादि के बराबर माना है। परिकर श्लोक इस प्रकार है–

चमत्कारकरा ह्येतेरसभावसहोदराः।

अनिवार्या स्थितिरेषां सत्काव्येषु सुनिश्चिता॥

---

1. धन्यासि . . . स्मरामि॥ काव्यप्रकाश 4,6

चतुर्थ अध्याय

काव्यात्मसम्बन्धी नूतन अवधारणाएँ

(षट्काव्यसम्प्रदाय एवं चमत्कारसम्प्रदाय)

1. षट्काव्यसम्प्रदाय

संस्कृतकाव्यशास्त्र में काव्य के आत्मतत्त्व के विषय में अत्यन्त सूक्ष्मता एवं विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। इन रसादि काव्यतत्त्वों के आधार पर मम्मट से पहले निम्नलिखित काव्यसम्प्रदायों की प्रवर्तना एवं स्थापना की जा चुकी थी।

1. रससम्प्रदाय

नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने रससम्प्रदाय की प्रवर्तना एवं स्थापना की है। उन्होंने रसों का विवेचन करते समय कहा है-

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः।

न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तत इति।[1]

हम सबसे प्रथम रसों की व्याख्या करेंगे क्योंकि रस के बिना कोई भी काव्यार्थ आगे नहीं बढ़ पाता।।

2. अलङ्कारसम्प्रदाय

भामह का कथन है–

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।।[2]

रमणी का मुख सुन्दर होते हुए भी बिना आभूषण के शोभित नहीं होता। उन्होंने अलङ्कारसम्प्रदाय का प्रवर्तन किया है।

3. रीतिसम्प्रदाय-

वामन ने कहा है-

रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टपदरचना रीतिः।

विशेषो गुणात्मा।[3]

काव्य की आत्मा रीति है। गुणवती पदसङ्घटना रीति कहलाती है। विशेष

1. भरतनाट्यशास्त्र 6,32 वृत्ति।
2. काव्यालङ्कार 2,13
3. काव्यालङ्कारसूत्र 1,2,6-8

अर्थात् गुणों से युक्त रचना विशिष्ट कहलाती है।

4. **ध्वनिसम्प्रदाय**

इसके प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन हैं उन्होंने कहा है-

काव्यस्यात्मा ध्वनिः

यह मत पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा कथित एवं अनुमोदित है।[1]

5. **वक्रोक्तिसम्प्रदाय**

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिसम्प्रदाय का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है-

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।[2]

चतुर व्यक्तियों के कथनप्रकार को वक्रोक्ति कहा जाता है उन्होंने इसको काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है।

6. **औचित्यसम्प्रदाय**

इसके प्रवर्तक क्षेमेन्द्र ने कहा है-

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।[3]

रस अर्थात् रसप्रपूरित काव्य का जीवित (आत्मा) औचित्य है।

काव्य में औचित्य का भी महत्त्व है।[4]

7. **चमत्कारसम्प्रदाय**

इन प्रसिद्ध सम्प्रदायों के अतिरिक्त एक सातवें चमत्कारसम्प्रदाय का प्रचलन भी इनके साथ साथ चल रहा था। भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक एवं क्षेमेन्द्र आदि प्रमुख आचार्यों ने इसका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख तो किया है। किन्तु इनमें से किसी बड़े आचार्य के द्वारा प्रतिपादित सम्प्रदाय के साथ इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जाता। कुन्तक एवं क्षेमेन्द्र ने चमत्कार के सम्बन्ध में बड़े सशक्त रूप में अपने विचार रखे हैं। किन्तु उनकी ओर आलोचकों का समुचित एवं अपेक्षित ध्यान नहीं जा सका है। मम्मट से पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों और काव्यप्रकाश एवं साहित्यदर्पण के टीकाकारों ने इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कहीं कहीं विचार प्रकट किये हैं। आधुनिक विद्वानों ने भी चमत्कारविषयक विचारों को अपनी कृतियों में स्थान देना शुरु कर दिया है।[5]

1. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधै र्यः समाम्नातपूर्वः। ध्वन्यालोक 1,1
2. वक्रोक्तिजीवित 1,10
3. औचित्यविचारचर्चा 5 कारिका
4. द्रष्टव्य वेदकुमारी विरचित कश्मीर का संस्कृतसाहित्य को योगदान। पृ. 199-206
5. द्रष्टव्य चमत्कारविचारचर्चा (चमत्कारसंप्रदाय प्रतिपादिनी कारिकावली) तथा त्रिविधाकाव्यसमीक्षा रामप्रताप

संस्कृतकाव्यशास्त्र के ग्रन्थों में चमत्कार शब्द का प्रयोग तो प्राचीन काल से होता आया है किन्तु सर्वप्रथम क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ कविकण्ठाभरण में चमत्कार के विषय में सूक्ष्मता एवं विस्तार के साथ जो विवेचन किया है उसे चमत्कारसम्प्रदाय के अन्तर्गत मान्यता प्रदान की जा सकती है। क्षेमेन्द्र ने कहा है-

न हि चमत्कारविरहितस्य कवे:कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्[1]

चमत्काररहित कवि के भीतर कवित्व नहीं होता और चमत्काररहित काव्य के अन्दर काव्यत्च नहीं हुआ करता। चमत्कारविरहित काव्य की निरुपयोगिता और अनाकर्षण का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा है-रत्नविहीनसुवर्णाभूषण, सुन्दरियों का लावण्यहीन यौवन और चमत्कारयुक्त पदों से विरहित काव्य किस के चित्त को आकर्षित करेगा? अर्थात् किसी के भी चित्त को नहीं आकर्षित करता।[2]

सत्त्व के अनुरूप वर्णन युक्त वाणी चमत्कार पैदा करती है।[3] आधुनिक आलोचक आचार्य बलदेव उपाध्याय ने चमत्कारवाद पर वक्रोक्ति के अन्तर्गत अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं- कुन्तक भी इसी व्यापक चमत्कार के काव्य के उपासक हैं। उनकी वक्रोक्ति इसी चमत्कार का पर्याय है। व्यापक अर्थ में रस, औचित्य, ध्वनि, वक्रोक्ति समस्त काव्यसार ही चमत्कार रूप है।[4]

मृदुला जोशी ने चमत्कारसिद्धान्त पर अपने विचार प्रकट किये हैं।[5]

इसी प्रकार चौदहवीं शताब्दी के आचार्य विश्बेश्वर कविचन्द्र ने अपनी कृति चमत्कारचन्द्रिका में चमत्कारविषयक जो विचार प्रस्तुत किये हैं उन्हें भी चमत्कारसम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है।

1. चमत्कार शब्द के व्युत्पत्ति एवं प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ

चमत्कार: पु. (चमत्करोतीति कृ + अण् . . . .)चमत्कार + कृ + भावे घञ्) चित्तविस्ताररूप: तत् पर्याय: विस्मय: इति साहित्यदर्पण: । लोकातीतार्थाकलनेन किमेतदिति ज्ञानधाराजनने चित्तस्य दीर्घप्रायत्वम् चित्तविस्तार:।

चमत्करणम्, चमत्कार:, चमत्कृति: (स्त्री) विस्मय, आश्चर्य,

---

1. कविकण्ठाभरण 3,1 वृत्तिभाग
2. वही 3,2
3. चमत्कारं करोत्येव वच: सत्त्वोचितं कवे:। औचित्यविचारचर्चा 31
4. भारतीयसाहित्यशास्त्र भाग 2, पृ. 35, 37
5. संस्कृतकाव्यपरिभाषाओं का आलोचनात्मक अध्ययन (मृदुला जोशी) पृ. 111-121

काव्यसौन्दर्य जिससे काव्य रस की अनुभूति होती है।[1]

चमत्कारः- चमत् का अर्थ कान्ति, दीप्ति आदि है और इनको करने वाले को चमत्कार कहते हैं। लोकातीत वस्तु के ग्रहण से ये क्या है? इस प्रकार की ज्ञानधारा के उत्पन्न होने से चित्तवृत्ति का दीर्घ विस्तार ही चमत्कार है।[2] चमत्कार पद की व्युत्पत्ति चमु भक्षे धातु से निष्पन्न होती है।[3]

हिन्दी शब्दसङ्ग्रह नामक कोश में चमत्कार शब्द के ये अर्थ बताये हैं– चमत्कार पुं. आश्चर्य, विलक्षण बात, अद्‌भुत घटना, करामात, विचित्रता, अनोखापन। अंग्रेज़ी में एस्टोनिशमैण्ट, सर्प्राईज़, एमेज़मैण्ट, वण्डर, मार्वल आदि अर्थों में चमत्कार शब्द का प्रयोग होता है और उर्दू में इसे मोज़िज़ा कहते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र में चमत्कार शब्द दो पारिभाषिक अर्थों में प्रचलित है। विस्मय तथा आस्वाद (काव्यास्वाद)। काव्यप्रकाश की दीपिकाटीका में भी चमत्कार शब्द का विस्मय अर्थ किया हुआ है।[5] आदर्शटीका में चमत्कार शब्द का साक्षात्कार रूप आस्वाद अर्थ में प्रयोग हुआ है।[6]

संस्कृतकाव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्य चमत्कार शब्द का प्रयोग इसी काव्यास्वाद के अर्थ में करते रहे हैं। वैसे चमत्कार का अभिप्राय उस नई सूझ बूझ वाली उक्ति से भी है जिससे विचित्र प्रकार का आनन्द मिलता है। चमत्कार के पर्याय के रूप में आनन्दवर्धन द्वारा प्रयुक्त स्फुरित, स्फुरणा एवं चमत्कृति शब्दों को रखा जा सकता है। ध्वन्यालोक में कहा है–

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।

---

1. शब्दकल्पद्रुमः द्वितीय काण्ड: पृ. 433
2. आप्टेकोश पृ. 73
3. चमुभक्षे कविकल्पदुमः।
4. हिन्दी शब्दसङ्ग्रह मुकुन्दीलाल राजवल्लभसहाय, ज्ञानमण्डल पुस्तक भण्डार काशी पृ. 120, 587
5. विस्मयापरपर्यायश्चमत्कारः सर्वरसप्राणभूतः। काव्यप्रकाश 4,28 दीपिका टीका।
6. चमत्कारः साक्षात्काररूप आस्वादः। काव्यप्रकाश 4,28 आदर्शटीका

स्फुरणेयं काचित्सहृदयानामुत्पद्यते॥[1]

जहाँ जिस वस्तु के विषय में लोगों (सहृदयों के मन) में यह कोई नई सूझ (स्फुरित या स्फुरणा) है इस प्रकार की अनुभूति होती है नई या पुरानी जो भी हो वही वस्तु रम्य (चमत्कारिणी) कहलाती है।

यह कोई अनिर्वचनीय स्फुरणा (नया विचार या न्यू आइडिया) है इस रूप में सहृदयों के चित्त के भीतर चमत्कार उत्पन्न होता है। यहाँ रमणीय स्थल से उत्पन्न आनन्द के अर्थ में स्फुरित एवं स्फुरणा शब्दों का प्रयोग किया गया है। आनन्दवर्धन के द्वारा समानार्थ में प्रयुक्त स्फुरित, स्फुरणा और चमत्कृति तीनों शब्द अर्थ की दृष्टि से प्रतीयमानार्थ का प्रतिपादन करने वाले ध्वनिसम्प्रदाय के साथ प्रत्यक्षरूप से जुड़े हुए हैं। किन्तु इनका अप्रत्यक्ष सम्बन्ध वक्रोक्ति, अलङ्कार तथा चमत्कारसम्प्रदाय के साथ जुड़ा हुआ है। डॉ वी. राघवन् के अुनसार चमत्कार शब्द भी रस की तरह पाकशास्त्र से अलङ्कारशास्त्र में आया है उनका कहना है कि चमत्कार शब्द में चमत् शब्द मूलतः ध्वन्यात्मक रहा होगा। किसी स्वादु और चटपटी वस्तु को खाते समय चट् चट् या चप् चप् की ध्वनि होती है। इस आधार पर चमत्कार शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा। कालान्तर में वह किसी आनन्दात्मक भाव के समय होने वाले स्फुरण के अर्थ के रूप में विकसित हो गया होगा।[2]

काव्यास्वाद के अर्थ में प्रयुक्त चमत्कार शब्द को अग्रेज़ी के ऐस्थैटिक प्लैज़र के पर्याय के रूप में रखा जा सकता है। इस अग्रेज़ी शब्द का प्रयोग काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि से जनित आनन्द के लिए भी किया जाता है। किन्तु संस्कृत का चमत्कार शब्द विस्मय और काव्यानन्द का ही वाचक है। अलङ्कार, वक्रोक्ति और रीति सम्प्रदाय के अनुयायी काव्य में विस्मय तत्त्व को प्रमुख स्थान देते हैं और ध्वनि और रसवादी आचार्य भावतत्त्व की प्रधानता प्रतिपादित करते हैं।

काव्य में चमत्कार का महत्त्व

काव्य में सौन्दर्य का महत्त्व सर्वोपरि है। सौन्दर्यानुभूतिजन्य आनन्द ही चमत्कार है। महाकवि माघ का कथन है-

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।[3]

---

1. ध्वन्यालोक 1,16 तथा वृत्ति
2. सम् कन्सैप्ट्स ऑफ अलङ्कारशास्त्र पृ0 268।
3. शिशुपालवध 4, 171

जो रूप क्षण क्षण में नवीनता को धारण करता है वही रमणीयता अर्थात् सच्ची सुन्दरता का वास्तविक रूप है। यह अभिनवसौन्दर्य काव्य का सारतत्त्व है। इसे आचार्यों ने काव्य का प्राणतत्त्व चमत्कार माना है। कई विद्वान् इस तत्त्व को रस और ध्वनि में देखते हैं तो कई रीति और अलङ्कार एवं वक्रोक्ति में। जब यह चमत्कार हृदय को उद्वेलित करता है तो यह भावात्मक होता है। और जब बुद्धि, ऊहा और कल्पना प्रेरित होता है तो कलापक्ष प्रधान होता है। जब इसका सम्बन्ध हृदय और बुद्धि दोनों से होता है तो काव्य का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है।

विस्मय को अद्भुतरस का स्थायिभाव माना जाता है। इस विस्मय का आठ स्थायिभावों तथा अद्भुतरस का आठ रसों में प्रमुख एवं प्रतिष्ठित स्थान है। आचार्य नारायण ने चमत्कार को अद्भुतरस का स्थायिभाव माना है और इससे अद्भुतरस की उत्पत्ति मानी है। इस चमत्कार (विस्मय) और अद्भुतरस की सारे रसों में स्थिति मानी है।[2] शृङ्गारादि रसों का आनन्द प्रायः वृद्ध एवं बालक उतना नहीं ले पाते जितना युवजन लेते हैं। किन्तु कुतूहलपूर्ण रचनाओं का आनन्द सभी लोग समान रूप से लेते हैं। सामाजिक काव्य और नाट्य में रसादिजन्य आनन्द तभी ले सकता है जब उसमें विद्यमान कथासूत्र में कुतूहल बना रहे। वास्तव में कुतूहल ही एक ऐसा तत्त्व है जो काव्य में सब भावों और रसों को एक सूत्र में बाँधता है। अन्य सब वस्तुयें भाव और रस गौण हो जाते हैं और कुतूहल या चमत्कार की प्रधानता हो जाती है वही महाकाव्य, नाटक एवं मुक्तक काव्य प्रंशसा को प्राप्त करते हैं जिनमें चमत्कारोत्पादक सूक्तियाँ भाव एवं रस समाविष्ट हों। जिन रचनाओं में भावों और रसों की अभिव्यञ्जना होती है उनमें चमत्कारतत्त्व अन्तर्गर्भित रहता है।

मम्मट - आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित स्थलों पर चमत्कार सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये हैं-

विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।

विगलितवेद्यान्तरत्वं च विषयान्तरसञ्चाराभावः। अयमेव

---

2. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।। साहित्यदर्पण 3,3 वृत्तिभाग

चमत्कार इत्यभिधीयते।।[1]

काव्यास्वाद ही चमत्कार है।

··· विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म।

लोकेति– लोकोत्तरचमत्कारप्रकर्षानुगुणा वर्णना विभावाद्युपनयनं तत्र निपुणः।[2] कवि अलौकिक चमत्कारमयी रचना करने में कुशल होता है।

इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

अतिशायिनि चमत्कारिणि इदं काव्य ··· चमत्कारकारिणि व्यङ्ग्ये उत्तमम्।[3]

यहाँ उत्तम काव्य में चमत्कारतत्त्व को आवश्यक बताया है।

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात्।[4]

यहाँ भी चमत्कार को आवश्यक तत्त्व कहा है।

शब्दचित्रमर्थचित्रमव्यङ्ग्यं त्वरं स्मृतम्।

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्।।[5]

अवर काव्य को गुणालङ्कारयुक्त बताया है। इस कारण उसके भीतर गुण और अलंकारों का चमत्कार तो रहेगा ही भले ही वह व्यङ्ग्यहीन हो। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने भी इसमें गुण और अलङ्कार कृत चमत्कार को स्वीकार किया है। इस प्रकार मम्मट ने तीनों प्रकार के काव्यों में चमत्कारतत्त्व को आवश्यक स्थान दिया है।

अस्ति कश्चित्स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारीति[6]।

यहाँ तरुणत्व शब्द की तुलना में तरुणिमा शब्द में अधिक चमत्कार होने

---

1. काव्यप्रकाश 1,2 वृत्ति तथा मधुमती टीका।
2. वही 6,2 वृत्ति तथा दीपिकाटीका
3. काव्यामृत 1,1 वृत्ति; काव्यप्रकाश 1.4 प्रदीपटीका।
4. (क) काव्यप्रकाश 1,5 तथा वृत्ति
   (ख) गुणालङ्कारयुक्तमिति –तदुभयनिबन्धनं चमत्कारनिबन्धनमित्यर्थः।
   वही 1,5 मधुमतीटीका।
5. यत्र तयोरेव प्राधान्येन चमत्कारित्वमित्यर्थः । वही 1,5 सारबोधिनी
6. काव्यप्रकाश 4,110 वृत्ति

का प्रतिपादन है।

अलङ्कारस्थलों में चमत्कार की प्रतीति-

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्री र्न मुञ्चति।
प्रभावप्रभावं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा।।

स्वाधीनपतिका कान्तं भजमाना यथा लोकोत्तरचमत्कारभूः तथा जयश्रीस्त्वदासेवनेनेत्यादिना प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्ते वैचित्र्यम्, वैचित्र्यं चालङ्कारस्तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्य-व्यवहारः न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीति-रपितु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव।[1]

यहाँ वाच्य वैचित्र्य के प्रतिभास से चमत्कार की प्रतीति हो रही है।

प्रश्नादनन्तरं लोकातिक्रान्तगोचरतया यदसम्भाव्यरूपं प्रतिवचनं स्यात्तदपरमुत्तरम्। अनयोश्च सकृदुपादाने न चारुताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम्।[2]

यहाँ लोकातिक्रान्तगोचरता और चारुताप्रतीति का प्रयोग अलौकिक चमत्कार के अर्थ में किया गया है।

आचार्य मम्मट ने प्रत्यक्ष रूप से तो अपने काव्यलक्षण में चमत्कार शब्द का प्रयोग नहीं किया है परन्तु उन्हें चमत्कार को अपने लक्षणों और उदाहरणों में समुचित स्थान देना अभीष्ट था। उन्होंने रसनिष्पत्तिप्रक्रिया में अभिनवगुप्त का मत दिखाते हुए रस के स्वरूप के सम्बन्ध में उसे अलौकिक चमत्कारकारी बताया है। वे अभिनवगुप्त के मत से पूर्णतया सहमत हैं। चमत्कारी शब्द से अभिप्राय है चमत्कार को पैदा करने वाला। इसलिए चमत्कार कार्य और शृङ्गार आदि रस उसके कारण हैं। कार्यकारणभावसम्बन्ध में कार्य की प्रधानता होती हैं और कारण की गौणता। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि मम्मट रस की तुलना में चमत्कार को अधिक महत्त्व देते हैं।

मम्मट के चमत्कारपरक इस मत को वामनाचार्य झलकीकर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है-

लोकोत्तरा चमत्कारिबोधजनिका या वर्णना मुखादौ कमलत्वादिरूपेण कथनादि तत्र निपुणस्य कवेरसाधारणं तादृग्

1. काव्यप्रकाश 10,393 तथा वृत्ति
2. काव्यप्रकाश 10, 121-122

वर्णनात्मकं कर्मेत्यर्थ इति प्रदीपोद्योतयोः लोकोत्तरवर्णना-
रूपकविकर्मेत्यर्थः इति नरसिंहठक्कुरः।।[1]

मम्मटोत्तरवर्ती आचार्य

नारायण -

साहित्यदर्पण में इनके मत को विश्वनाथ ने इस प्रकार उद्धृत किया है-

यथाह धर्मदत्तः-

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्रानुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।[2]

जैसा कि धर्मदत्त ने कहा है- रस में सार चमत्कार है और वह सर्वत्र शृङ्गार आदि रसों में अनुभव किया जाता है। उस चमत्कार रूप स्थायिभाव के होने पर सर्वत्र शृङ्गारादि रसों में अद्भुत रस होता है। इस कारण मेरे गुरु नारायण ने अद्भुत रस को ही एकमात्र रस कहा है। चमत्कार के दो अर्थ हैं–विलक्षण ज्ञान रूप काव्यास्वाद तथा विस्मयस्थायिभाव (स्थिरांश)।

आचार्य नारायण साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के प्रपितामह तथा धर्मदत्त के गुरु थे। नारायण, धर्मदत्त और विश्वनाथ इन तीनों के अनुसार रस और चमत्कार में जन्यजनकभाव (कार्यकारणभाव) सम्बन्ध है।

नारायण और धर्मदत्त के अनुसार रस जन्य है और चमत्कार उसका जनक है जन्य की प्रधानता होती है। रस काव्य की आत्मा और चमत्कार उसका प्राण हैं। इसके कुछ विपरीत जाकर विश्वेश्वर भी चमत्कार और रस में जन्यजनकभाव सम्बन्ध मानते हैं उनके मत में चमत्कार जन्य है और रस इसका जनक है। साहित्यदर्पण के टीकाकारों ने साहित्यदर्पण में प्रयुक्त चमत्कार शब्द का भिन्न भिन्न रूप से अर्थ जताया है।

(क) चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः · · · यद्वा अपरपर्यायोऽभिन्नः तत्प्राणत्वं चमत्कारसारत्वम्। सारः स्थिरांशः सर्वत्र शृङ्गारादौ चमत्कारसारत्वे चमत्कारस्थायिभावत्वे तस्मात् सर्वत्राद्भुतरसम्भवात्।।[3]

(ख) तस्मिन् (चमत्कारे)सति शृङ्गारादिरसकाव्येष्वपि अद्भुतो रसः सम्भवति।[4]

---

1. वामनाचार्य झलकीकर कृत काव्यप्रकाश 1,3 पर बालबोधिनी टीका
2. साहित्यदर्पण 3,3 वृत्ति
3. साहित्यदर्पण 3,3 रामचरणतर्कवागीशकृत विवृतिटीका
4. वही 3,3 महेश्वरभट्टाचार्यकृत विज्ञप्रिया टीका

(ग) नारायणदासैरप्युक्तमिति- चमत्कार एव सर्वरसप्राणभूतः। तस्य च रत्याद्यंशशबलत्वेन यथायथं शृङ्गारादिव्यपदेशः। तदभावाददभुतव्यपदेश इति।।[1]

विद्याधर

उन्होंने अपने ग्रन्थ में गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रसङ्ग में कहा है-

तरुणी कुचमण्डलमिव गूढं यस्माच्चमत्कुरुते।

वाच्यायमानमस्माद् व्यङ्ग्यमगूढं गुणीभूतम्।।[2]

उन्होंने पिहितापिहित व्यङ्ग्यार्थयुक्त काव्य को चमत्कारपूर्ण कहा है।

विश्वनाथ

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।

चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः।

तत्प्राणत्वञ्चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डित मुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्।[3]

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।[4]

स्फुटं स्पष्टं चमत्कारितया चमत्कारजनकतया वत्सलं रसं विदुः।[5]

चमत्कारितया चमत्कारः काव्यजीवातू रसत्वमिति यावत्

सोऽस्मिन्नस्तीति तस्य भावस्तत्ता तया।[6]

चमत्कारातिशयं पुष्णाति।[7]

उन्होंने चमत्कार का अर्थ विस्मय किया है। इसी चमत्कार या विस्मय को रस का प्राण कहा जाता है। इस चमत्कार को रस का स्थायिभाव मानने पर उससे अद्भुत रस रूप कार्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार चमत्कार कारण और रस कार्य है। चमत्कार रस का उत्पादक हेतु है। चमत्कार रूपी उपादानकारण से रस रूपी कार्य की उत्पत्ति होती है। चमत्कार अदभुत रस का कारण तो होता ही है साथ ही यह सारे शृङ्गारादि रसों में ओत प्रोत भी रहता है।

साहित्यदर्पण की विमलाटीका में शालग्राम शास्त्री ने अपनी पहली टिप्पणी

1. साहित्यदर्पण 3,3 अनन्तदास कृत लोचनटीका
2. एकावली 4,1
3. साहित्यदर्पण 3,3 तथा वृत्ति
4. वही, 3,25
5. वही 3,25 कुसुमप्रियाटीका
6. वही 3,25 रुचिराटीका
7. वही 7,28 वृत्ति

में चमत्कार एवं व्यञ्जना को रस का कारण बताया है। दूसरी टिप्पणी में रस, गुण अलङ्कार, रीति आदि को चमत्कार का कारण बताया है।[1] पहला मत विश्वनाथ के मत से मिलता है। और दूसरा मत चमत्कारचन्द्रिकाकार विश्वेश्वर के मत के साथ मेल खाता है।

विश्वेश्वर कविचन्द्र

चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः।।
सप्ताङ्गसङ्गतं काव्यं साम्राज्यमिव भासते।।
लक्ष्यते तदिदं साङ्गं मया कृतधियां मुदे।
वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः।।[2]
शब्दार्थरूपं तदिदं काव्यं शब्दार्थकोविदैः।।
त्रैविध्येन चमत्कारि चमत्कारितरं यथा।।
चमत्कारितमं चेति प्रविविच्य निदर्शितम्।।
शब्दचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारीति कथ्यते।।
वाच्यचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारितरं मतम्।[3]
प्रत्येयार्थस्य चारुत्वे चमत्कारितमं मतम्।।[4]

विश्वेश्वर कविचंन्द्र ने काव्यलक्षण में चमत्कारतत्त्व का समावेश कर चमत्कारसम्प्रदाय को प्रतिष्ठापित किया है। यद्यपि उनके पूर्ववर्ती आनन्दवर्धनाचार्य, अभिनवगुप्त, कुन्तक, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, मम्मट, नारायण, और विश्वनाथ चमत्कारसम्प्रदाय की प्रवर्तना कर चुके थे किन्तु चमत्कारचन्द्रिकाकार ने इस सम्प्रदाय को स्थापित करके सुदृढ कर दिया था। इसी कारण उनके उत्तरवर्ती प्रमुख आचार्यों ने चमत्कार को अपने ग्रन्थों में समुचित स्थान दे दिया है।

उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने अपने काव्यलक्षणों में चमत्कार को नहीं रखा है। और न ही उसे काव्य के आत्मतत्त्व होने का गौरव प्रदान किया है उन्होंने चमत्कार के आधार पर चमत्कारितर, चमत्कारितर और चमत्कारितम इन तीन

1. साहित्यदर्पण। 3,3 विमला टीका के अर्न्तगत अर्वाचीन साहित्य विवेचना की समाप्ति पर।
2. चमत्कारचन्द्रिका प्रथम विलास पृ. 2-3
3. चमत्कारचन्द्रिका तृतीय विलास पृ. 73
4. वही तृतीय विलास पृ. 77

काव्यभेदों को बताया है। उनके अनुसार गुण,रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या और अलङ्कार ये सात चमत्कारोत्पत्ति के कारण हैं। इन सात उपादानकारणों से चमत्कार रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। इस चमत्कार के शब्द, अर्थ, गुण, अलङ्कार एवं रीति उपादानकारण हैं और विभावादि निमित्तकारण हैं और इन सबका संवलित या मिश्रित रूप चमत्कार रूपी कार्य है। कारण की अपेक्षा कार्य का अधिक महत्त्व होने से रसादिकारणों की तुलना में चमत्कार रूप कार्य का अधिक महत्त्व है।

कविकर्णपूर –उन्होंने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है–

कविवाङ् निर्मितिः काव्यम्।

असाधारणचमत्कारकारिणी रचना हि निर्मितिः।[1]

रसे सारश्चमत्कारस्तं विना न रसो रसः।।[2]

विश्वनाथदेव–उनके ग्रन्थ साहित्यसुधासिन्धु में काव्य, रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि के प्रसङ्गों में चमत्कारतत्त्व को समाविष्ट किया गया है। यहाँ कतिपय स्थलों का विवरण दिया जा रहा है। काव्यलक्षण के प्रसङ्ग में निम्नस्थलों पर चमत्कार का विवेचन किया गया है–

वक्रोक्तिश्च चमत्कारकारिण्युक्तिः।[3]

यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारो वाच्यादधिकतरो भवेत्।
ध्वनिकाव्यमिदं प्राहुः पारिभाषिकमुत्तमम्।
वाच्याधिकचमत्कारि नो व्यङ्ग्यं यत्र भासते।
तदेव मध्यमं काव्यं कविवृन्दै र्निगद्यते।।[4]

तत्र शब्दालङ्कारचमत्कारि यथा- न्यक्कारा: कैरवाणाम् इत्यादि।

अर्थालङ्कारचमत्कारि यथा-दुर्वाराति० इत्यादि।

अत्र चोत्प्रेक्षा चमत्कारकारिणी अनुप्रासोत्प्रेक्षे चमत्कारहेतू।

पार्यान्तिकचमत्कारापेक्षया...। तदाहितचमत्कारानन्तरम्।

रसोद्बोधो · · · ध्वनित्वम्।[5]

रसप्रसङ्ग में निम्नस्थलों पर चमत्कार का विवरण है–

· · · पुरः स्फुरणादिचमत्कारित्वं च।

त्रासश्चित्तचमत्कार आकस्मिकभयादिभिः।[4]

1. अलङ्कारकौस्तुभ 1,2 तथा वृत्ति
2. वही 5,72 वृत्ति
3. साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति
4. वही 1,5-6
5. वही 1,5 वृत्ति, 6 वृत्ति, 7 वृत्ति

दोषप्रकरण में निम्नस्थलों में चमत्कार वर्णित है–

येषां ज्ञानाच्चमत्कारो न सम्यगुपजायते।

· · · न यथा चमत्करोति।[1]

श्लेषगुण के प्रसङ्ग में चमत्कार का निरूपण है–

यद् वैचित्र्यचमत्कारानुगुण्यस्य। गुणस्य साधकत्वात्।

श्लेषस्य स्वतः एव चमत्कारिता। चमत्कारहेतुत्वस्य सर्वसम्मतत्वात्[3]

चमत्काराधायकत्वेन चमत्कारकारिणीति।[4]

अतीव चमत्कार इति। यदि चमत्क्रियते तन्माला।[5]

चमत्कारान्य, चमत्कारप्रयोजक। व्यङ्ग्योपमायाश्चमत्कारित्वम्।[6]

पण्डितराजजगन्नाथ

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।

लोकोत्तरत्वञ्चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभव-साक्षिको जातिविशेषः। इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थ-प्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्। स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थ-प्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्। · · · काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव।[7]

यहाँ प्रत्येक काव्यलक्षण में चमत्कार शब्द का प्रयोग है। एवं चमत्कारित्व-धर्म को काव्य का जीवन (आत्मा, प्राण) बताया है।

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्–रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द का नाम काव्य है। इस लक्षण में प्रयुक्त रमणीय शब्द में रहने वाली रमणीयता को स्पष्ट करने के लिए पण्डितराज ने कहा है– रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनक-ज्ञानगोचरता–अलौकिक आनन्द के उत्पादक ज्ञान की विषयभूतता रमणीयता कहलाती है। जिसके बार बार अनुसन्धान करने से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो उसे रमणीय कहते हैं। (ए थिङ्ग ऑफ ब्यूटी इज़ जॉय फॉर ऐवर–जौन कीट्स)

1. साहित्यसुधासिन्धु 3,27; 3,64; 5, 81 एवं वृत्ति
2. वही 6,155 वृत्ति
3. वही 7,28; 8,213 वृत्ति
4. वही 8, 214 वृत्ति; 8,215 वृत्ति
5. वही 8, 224; 8,232; 8, 283
6. वही 8, 283; 8, 284; 8, 284
7. रसगङ्गाधर प्रथम आनन काव्यलक्षण

सुन्दर वस्तु शाश्वत आनन्द को देने वाली होती है। उस रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं। भामह और रुद्रट ने शब्दार्थ के सहभाव को काव्य बताया है। इससे केवल इन दोनों के संयोग या समवाय सम्बन्ध का ज्ञान होता है। इससे अधिक और कुछ नहीं। वामन और मम्मटादि के मत में गुणालङ्कारसहित शब्दार्थ को काव्य माना गया है। किन्तु इन लक्षणों में ध्वनि और रसजन्य लोकोत्तराह्लाद को सूचित नहीं किया गया। भोजराज, जयदेव आदि के काव्यलक्षणों में रीति, गुण, अलङ्कार और वृत्ति के ही साथ साथ रस का उल्लेख भी कर दिया गया है। इससे रस की प्रधानता की उपेक्षा की गई है। आनन्दवर्धन, कुन्तक और विश्वनाथ ने क्रमशः ध्वनि, वक्रोक्ति और रस को आत्मा तो बता दिया है किन्तु उनके मत व्याख्यासापेक्ष ही हैं। पण्डितराजजगन्नाथप्रयुक्त रमणीयता पद में चमत्कार अन्तर्गर्भित है जिसे उन्होंने अपने अगले तीनों परिनिष्ठित काव्यलक्षणों और काव्यभेदों में समुचित स्थान दिया है।

चमत्कारत्वरूप जातिविशिष्ट चमत्कार लोकोत्तरतत्त्व है। और वास्तव में वही तत्त्व काव्य में रहता है। काव्यप्रकाश के टीकाकार रविभट्टाचार्य भी इसका महत्त्व मानते हैं।[1] पण्डितराजजगन्नाथ ने इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है– लोकोत्तरत्वञ्च चमत्कारापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः का यह अभिप्राय है कि चमत्कार में रहने वाला चमत्कारत्व एक जाति होने से चमत्कार की विविधरूपता की सूचना देता है। साथ ही साथ चमत्कार को द्रव्य रूप पदार्थ माना है न कि गुण रूप धर्म। यह रमणीयता से उपलब्ध होने वाली आह्लादगत चमत्कारत्व–जातिविशेष अन्य लौकिक आह्लादों का व्यावर्तन करते हुए विविध काव्याह्लादों की एकाकारता की प्रतीति भी कराता है। क्योंकि जातिपदार्थ काव्य का प्राणप्रद धर्म होता है इसलिए चमत्कार पदार्थ में चमत्कारत्व ही चमत्कार का इतरव्यावर्तक प्राणप्रद धर्म है। उन्होंने चमत्कारित्व को काव्यजीवित कहा है।[2]

इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम् (काव्यत्वम्) इसका तात्पर्य है लोकोत्तर आह्लाद की जनिका भावना के विषयभूत अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। यहाँ चमत्कार शब्द का प्रयोग काव्यास्वाद के अर्थ में किया गया है। एक बात ध्यान देने योग्य है कि पण्डितराजजगन्नाथ ने अपने तीनों परिष्कृत और फलित लक्षणों तथा चारों काव्यभेदों में चमत्कृति एवं चमत्कार शब्दों का प्रयोग किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वे चमत्कार

1. चमत्काजनकं हि काव्यमिह निरूप्यम्। काव्यप्रकाश 1,4 मधुमतीटीका
2. काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव। रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षण

को काव्य में सर्वोपरि स्थान प्रदान करते हैं चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम् कहकर वे अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर देते हैं। इस फलित लक्षण में उन्होंने शब्दार्थसमष्टि का स्थूल धरातल भी छोड़ दिया है। रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द को काव्य मानने वाले पण्डितराज अन्त में केवल चमत्कारत्वविशिष्ट शब्द को काव्य घोषित करके चमत्कारप्रतिष्ठापक परमाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गये हैं।

अतिनवीन आचार्य

श्रीमती वी० के० शर्मा ने चमत्कार के महत्त्व के सम्बन्ध में ए० बी० कीथ, एस० के० डे, सूर्यकान्त, एस० एन० दासगुप्ता तथा वी० राघवन् के मतों को उद्धृत किया है।[1] कान्तिचन्द्र भट्टाचार्य, छज्जूराम शास्त्री, रेवाप्रसाद, वायुनन्दन पाण्डेय, शिव जी उपाध्याय तथा कृष्णचन्द्र चतुर्वेद ने अपने अपने काव्यलक्षणों में चमत्कारतत्त्व को समुचित स्थान प्रदान किया है। वागीश्वर विद्यालङ्कार ने चमत्कार को रसभावादि का विकल्प माना है।[2]

---

1. Aesthetic Principles of Acharyas Kshemendra: Smt. V.K.Sharma, pp. 85-87, 148-149, 156.
2. (1) लोकोत्तरचमत्कारितया सहृदयहृदयाकर्षि वाक्यं काव्यमिति फलितम्।
   (2) चमत्कारविशिष्टं शब्दार्थयुगलं काव्यमिति फलितम्। साहित्यबिन्दु पृ० 5
   (3) ज्ञानात्मकेन शब्दाख्येनार्थेनार्थान्तरात्मकः।
   यः कश्चन चमत्कारी बोधः काव्यं स उच्यते।।
   (4) चमत्कारिशब्दार्थौ काव्यमिति निर्दुष्टं लक्षणं ज्ञेयम्। साहित्यसिद्धान्तसमीक्षा
   (5) लोकोत्तरतया लोके प्रतिष्ठदहर्निशम्।
   लोकालोकाद्भुतानन्दस्यन्दि साहित्यमुच्चितम्।।
   चमत्काराधायकमानन्दं · · · स्यन्दते तादृशं साहित्यम्। साहित्यसन्दर्भ 4, 6 तथा वृत्ति
   (6) चमत्कारिबोधजनकशब्दार्थयुगलं काव्यम्। अलंकारध्वनिविमर्श प्रथमप्रवाह पृ० 6
   (7) रसभावचमत्कारान्यतमप्राणपेशलः।
   काव्यं शब्दार्थसन्दर्भोऽलौकिकानन्दसुन्दरः।।

   किञ्च स शब्दार्थसन्दर्भः काव्यमुच्यते यो रसभावचमत्कारान्यतमप्राणपेशलः स्यात्। चमत्कारः शब्दार्थालङ्कारादीनां कुशलप्रयोगजन्या चित्तचमत्कृतिः। चमत्कारकथनाद् रसादिरहिताया अपि सहृदयाह्लादकारिण्या रचनायाः काव्यत्वं प्रतिपादितम्। कल्पनाप्रधानम् उक्तिवैचित्र्यात्मकम् विरोधगर्भम् विविधालंकारैरुपस्कृतं चित्रं काव्यं स्ववैलक्षण्येन चित्तं यथा चमत्करोति न तथा रसकाव्यम्।

   वैदिकसाहित्यसौदामिनी 2,7 तथा वृत्ति ; 2,3 वृत्तिभाग

निष्कर्ष

चमत्कारसम्बन्धी इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य का प्रमुख तत्त्व चमत्कार है और यही काव्य की आत्मा है। चमत्कार के विश्लेषक आचार्यों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-

प्रथम श्रेणी में भरत,भामह,दण्डी, वामनादि आचार्य हैं जिन्होंने चमत्कारतत्त्व का परोक्षतया स्पर्श तो किया है किन्तु उसको पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया है। इस कारण उनका सम्बन्ध रस, रीति आदि सम्प्रदायों से जुड़ गया है। चमत्कार के समर्थक होते हुए भी उनको चमत्कारसम्प्रदाय के आचार्यों के रूप में मान्यता नहीं मिली है। दूसरी श्रेणी में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, विश्वेश्वर कविचन्द्र, विश्वनाथदेव, हरिप्रसाद आदि आचार्य आते हैं जिन्होंने चमत्कार को अपनी कृतियों में महत्त्व प्रदान किया है और उसका प्रत्यक्ष प्रतिपादन किया है। मम्मटोत्तरयुग में अधिकांश आचार्यों ने चमत्कारसम्प्रदाय को अपना अधिक से अधिक समर्थन दिया है। रवि भट्टाचार्य ने तो चमत्कार को काव्य का हेतु कहा है।[1] वर्तमान काल में काव्यसम्प्रदायों की आलोचना करते समय रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य इन्हीं छः प्रसिद्ध सम्प्रदायों की ओर ही समालोचकों का ध्यान रहता आया है किन्तु पिछले पच्चीस तीस वर्षों से विद्वान् आलोचकों का ध्यान चमत्कारसम्प्रदाय की ओर भी जाने लगा है। वस्तुतः रस, अलंकार आदि समस्त काव्यसामग्री काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करके चमत्कार का ही आस्वाद कराती है। इस कारण चमत्कारसम्प्रदाय काव्यशास्त्र में परिगणित एवं प्रसिद्ध अन्य सम्प्रदायों की तुलना में अधिक सक्षम एवं व्यापक है। संस्कृतकाव्यशास्त्र में छः सम्प्रदायों के साथ साथ इस सातवें चमत्कारसम्प्रदाय को भी स्थान दिया जाना अपेक्षित है। पहले ही यह सम्प्रदाय बुरी तरह उपेक्षित रहा है अब इसकी और अधिक उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। इसके पक्ष में प्राप्त युक्तियों के आधार पर इस सम्प्रदाय को सर्वोपरि स्थान दिया जा सकता है। कम से कम जो स्थान अब तक रस और ध्वनि को मिलता रहा है वह स्थान अब चमत्कार को भी अवश्य दिया जाना चाहिए। नवीन प्रस्तावित रसाद्यौचित्यजन्य-चमत्कारमूलक समीक्षा के आधार पर काव्य और नाटकों की आलोचना करनी चाहिए।[2] यह सन्तोष की बात है कि कई विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में चमत्कारपरक काव्यलक्षणों तथा विचारों को भी दिखाया है।[3]

1. शक्त्यादित्रयं काव्यकारणकारणमिव चमत्कारोऽपि हेतुः। काव्यकाश 1,3 मधुमतीटीका
2. विशेष द्रष्टव्य -चमत्कारविचारचर्चा तथा त्रिविधा काव्यसमीक्षा रामप्रताप।
3. कृष्णकुमार-काव्यशास्त्रविमर्श आनन्दकुमार श्रीवास्तव-आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र तथा महेश भारतीय-काव्यस्वरूप, सौन्दर्य एवं चमत्कार।

पञ्चम अध्याय

काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु एवं काव्यभेद सम्बन्धी नूतन अवधारणायें

काव्यप्रयोजन

प्रयोजनं ह्यनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते (काव्यप्रकाश 1,2 काव्यादर्श टीका) इस उक्ति में कहा गया है कि मूर्ख व्यक्ति भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अब कई प्रश्न उपस्थित होते हैं कि काव्य का क्या प्रयोजन है? कवि किसलिए काव्य की रचना करता है और सहृदय काव्य के पठन, श्रवण और प्रेक्षण में किस उद्देश्य से प्रवृत्त होता है? इन प्रश्नों का उत्तर काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार दिया है। यहाँ मम्मट, मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों तथा काव्यप्रकाश के टीकाकारों के मतों को उद्धृत किया जा रहा है।

1. **मम्मट तथा मम्मटोत्तरवर्ती आचार्य**

मम्मट–काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।

सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं. कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।।

काव्यप्रकाश 1,2 तथा वृत्ति

2. **विश्वनाथ**–चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।

काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।।

साहित्यदर्पण 1,2

3. **हेमचन्द्र**—काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्योपदेशाय च।

काव्यानुशासन प्रथमाध्याय

4. **पण्डितराजजगन्नाथ**—तस्य कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादा-द्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य

रसगङ्गाधर प्रथमानन, काव्यलक्षणप्रकरण

5. **अच्युतराय** काव्यादिस्वार्थमन्यार्थं चाथ स्वार्थश्चतुर्विधः।

धर्मादिकीर्तिसम्पत्तितृप्तिमुक्तिवपुः क्रमात्।।

साहित्यसार पृ. 3

सुन्दरी स्वेशहृदयं वशीकृत्य स्वसद्गुणैः।
लौकिकं वैदिकं चापि कुजतीष्टं ससाधनम्।।
तद्वत् काव्याद्यपि श्रीमन्महारामायणादिकम्।
श्रोतुर्मनो वशीकृत्य हितं वक्ति सहेतुकम्।।

वही पृ. 6

6. **छज्जूराम शास्त्री**—धर्मस्यार्थस्य कामस्य मोक्षस्यापि प्रयोजकम्।
कीर्तिप्रीतिकरं चाह भामहः काव्यसेवनम्।।

साहित्यबिन्दु पृ. 8

7. **हरिदास सिद्धान्तवागीश**—प्रयोजनमानन्दः काव्यस्य

काव्यकौमुदी पृ. 11

न खलु निवृत्तरागेण भगवता वाल्मीकिना यशसे अर्थकृते वा रामायणं निरमायि।

वही पृ. 11

8. **रेवाप्रसाद द्विवेदी**—प्रयोजनं कवेः काव्ये नापि किञ्चन दृश्यते।
चुङ्कृतौ कलविङ्कस्य यथा प्राभातिके क्षणे।।
एषणात्रितयोत्तीर्णे रामायणमहाकवौ।
आत्माविष्कारनैष्कर्म्यनैसर्गी किं प्रयोजनम्।।

युगावश्यकतापूर्तिर्मन्त्रव्यक्तिरपि क्वचित्।।
प्रयोजनं रघुव्यक्ती रघुवंशे यथा कवेः।
अधर्मोत्थानवेलायां धर्मरक्षापि दृश्यते।
काव्यार्थस्तुलसीकाव्ये यथा यवनशासने।
राष्ट्रदेवप्रबोधोऽपि विश्वदैवतसाक्षिकः।
काव्यप्रयोजनं पुंभ्यः पुमर्थांश्चतुरो दुहन्।।
न स्यात् प्रयोजनं स्याद् वा कवेः सामाजिकस्य तु।
मातृस्तन्यं यथा काव्यं हन्त सर्वार्थसाधनम्।।
काव्यालङ्कारकारिका 11–15,17

9. **ब्रह्मानन्द शर्मा**–प्रवृत्तिर्या कवेः सत्ये काव्ये सा परिवर्तते।
नात्र प्रयोजनं किञ्चित् स्वभावस्तु प्रवर्तते।।
काव्यसत्यालोक पृ. 75

काव्यप्रकाश के टीकाकार

1. **सरस्वतीतीर्थ**–काव्यप्रयोजनं रसादिवर्णना।
काव्यप्रकाश 1,2 बालचित्तानुरञ्जिनी टीका

2. **सोमेश्वर**– कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम्।।
काव्यप्रकाश 1, 2 काव्यादर्श सङ्केतटीका

3. **चण्डीदास**- लोकोत्तरचमत्कारप्रकर्षानुगुणा वर्णना विभावाद्युपनयनं
तत्र निपुणः (कविः) तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।
काव्यप्रकाश 1,2 दीपिकाटीका

4. **विश्वनाथ**–स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं काव्यार्थमुपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभैषजम्।। (भामह काव्या. 53)
एवञ्च परिणतबुद्धिभिरपि काव्यं प्रवर्तितव्यम्।
काव्यप्रकाश 1,2 दर्पणटीका

5. **रवि भट्टाचार्य**– लोकोत्तरवर्णनारूपं निपुणं कविकर्मेत्यर्थः।

लोकोत्तरवर्णनैव काव्यम् ··· एवं च रसादि–विषयौचित्येन शब्दार्थयोजनमिह कविकर्मत्वेन विवक्षितम्। ··· यदि च वर्णना चमत्कारानुकूल–पदकदम्बः तदा लोकोत्तरत्वविशेषणेन शब्दार्थ–विषयककविकर्मण्येव काव्यपदप्रयोगः। यद्वा लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्वं कविविशेषणम्। तच्च चमत्कारानुकूलत्वम् यद्वा लोकोत्तरवर्णनावत्त्वं निपुणकविकर्मत्वं चेति लक्षणद्वयम्।

काव्यप्रकाश 1.2 मधुमती टीका

6. **परमानन्द भट्टाचार्य**– अयमर्थः शब्दार्थयुगलात् काव्याद् विभावादीनामुपनयनम्। ततो विभावादिभि–

र्विभावादिव्यापारेण ··· ज्ञानसुखात्मकः पानकरसवत् समूहालम्बनरूपश्चमत्कारापरपर्यायो रसः स्वयमेव प्रकाशते इति प्रक्रिया।

काव्यप्रकाश 1,2 विस्तारिकाटीका

7. **गोकुलदास उपाध्याय** लोकोत्तरेति। लोकादचमत्कारिणो बोधादुत्तरोत्कृष्टा चमत्कारिणी या वर्णना बुद्धिस्तन्निपुणं कविकर्म काव्यम्।

वही 1,2 विवरणटीका

8. **वामनाचार्य झलकीकर** – काव्यमिति कवेः कर्म काव्यम्...

लोकोत्तरेत्यादि लोकोत्तरा चमत्कारिबोध–जनिका या वर्णना मुखादेः कमलत्वादिरूपेण कथनादि तत्र निपुणस्य कवेरसाधारणं तादृक् वर्णनात्मकं कर्मेत्यर्थः प्रदीपोद्योतयोः स्पष्टम्।

लोकोत्तरवर्णनारूपं निपुणं कविकर्मेत्यर्थः।

काव्यप्रकाश 1,2 बालबोधिनीटीका।

मम्मट तथा मम्मटोत्तरवर्ती इन आचार्यों तथा टीकाकारों द्वारा प्रतिपादित इन काव्यप्रयोजनों पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि काव्यरचनाओं में कवियों के द्वारा लोकोत्तर चमत्कार का अभिव्यञ्जन किया जाना चाहिये जिससे सहृदय काव्यरस का आनन्द पा सके यही काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन है। यश और धन कवि को प्राप्त होते हैं। इस कारण कवि का प्रयोजन इन दोनों की प्राप्ति ही है। सहृदय सामाजिक का मुख्य प्रयोजन दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य के प्रेक्षण, पठन और श्रवण से आनन्द प्राप्ति होता है। ब्रह्मास्वादसहोदर परमानन्द की अनुभूति पहले कवि स्वयं काव्यनिर्माण के समय अपने चित्त के भीतर अनुभव करता है तदनन्तर अपने काव्यकौशल से अपने काव्य में उसे सङ्क्रान्त कर देता है उसी का आस्वादन प्रेक्षक और पाठक करता है। रसानुभूति अथवा चमत्कार का अनुभव कवि तथा सामाजिक दोनों का सांझा प्रयोजन है। किन्तु गोस्वामी तुलसीदास जैसे कुछ आचार्य कवि की दृष्टि से काव्यसृष्टि को निष्प्रयोजन भी मानते हैं। स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा- यह रामचरितमानसग्रन्थ मैंने अपने ही सुख के लिए बनाया है मन में किसी प्रयोजन को लेकर नहीं ऐसा तुलसीदास का कहना हैं। इसी प्रकार रेवाप्रसाद द्विवेदी ने प्रातः काल के समय चिड़िया का कलरव किसी प्रयोजन के बिना ही होता है इस प्रकार का अपना अभिमत प्रकट किया है। वाल्मीकि जैसे वीतराग कवियों ने यश और धन की इच्छा से दूर रहकर अपना रामायण महाकाव्य बनाया होगा ऐसी कल्पना करने से काव्य की सृष्टि बिना किसी प्रयोजन के मानी जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्यरचना के समय कवि का प्रयोजन आत्मसुख के लिए तो होता ही है। इसी प्रकार सहृदय, सामाजिक भी विगलितवेद्यान्तर रस के आस्वाद को पाकर चमत्कृत हो जाता है।

काव्यहेतु

काव्य रचना के कौन कौन से हेतु अथवा उपादानकारण हैं इस विषय में मम्मट के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों ने चिन्तन किया है। कुछ आचार्य केवल प्रतिभा को कारण मानते हैं तो कुछ प्रतिभा के साथ अन्य तत्त्वों को भी काव्य का हेतु मानत हैं किन्तु अधिकांश ने प्रतिभा को ही काव्य का प्रमुख

कारण माना है। व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसका सहकारिकारण बताया है। कतिपय विद्वान् प्रतिभा को साक्षात् कारण बताते हैं तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का कारण मानते हैं।

मम्मट एवं मम्मटोत्तरवर्ती आचार्य

1. **मम्मट**– शक्ति निंपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

इति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे

निर्माणे समुल्लासे च हेतु र्न तु हेतवः।।

काव्यप्रकाश 1,3 वृत्ति

2. **जयदेव**– प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।

हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्ति र्लतामिव।।

चन्द्रालोक 1,6

3. **वाग्भट** – प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणं व्युत्पत्त्यभ्यासौ

तस्या एव संस्कारकौ न तु काव्यहेतू।

अलङ्कारतिलक पृ. 2

4. **पण्डितराजजगन्नाथ** – तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।

तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषादिजन्य मदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति–काव्यकरणाभ्यासौ।

रसगङ्गाधर प्रथमानन, काव्यलक्षणप्रकरण

5. **विद्याराम** – काव्यस्य करणे हेतु श्चैतेऽर्थाः सङ्गताः।

देवतोपासनं पूर्वसंस्कारस्तीव्रबुद्धिता।।

द्वित्रव्याकरणज्ञानं त्रिचतुःकोशसंस्तवः।

शास्त्रज्ञानं सर्वलोकव्यवहारप्रवीणता।।

काव्यावलोकः काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास उत्कटः।

प्रातःकालिकः कालस्तदैका सततचित्तता।

एते सम्मिलिताः काव्यहेतु र्व्यस्ता न कर्हिचित्।

रसदीर्घिका पृ. 56

6. **चिरञ्जीव भट्टाचार्य** – प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कविताकरी।

काव्यविलास

7. **अच्युतराय** – तद्धेतुस्तत्स्वरूपानुकूला शब्दाद्युपस्थितिः।

सा देवतादिकृपया शास्त्राभ्यासादितोऽथवा।।

साहित्यसार पृ. 21

8. **रेवाप्रसाद द्विवेदी** – कारणं प्रतिभा काव्ये सा चार्थप्रतिभासनम्।

प्रज्ञा कादम्बिनी गर्भे विद्युदुद्योतसोदरम्।

उपादानं निमित्तं च काव्यस्य प्रतिभैव सा।

काव्यालङ्कारकारिका 2,10

9. **ब्रह्मानन्द शर्मा** – शक्तिः श्रमश्च काव्यस्य कारणमिति मे मतिः।

शक्तिरत्र प्रधाना स्याच्छ्रमस्याप्युपयोगिता।।

काव्यसत्यालोक पृ. 75

काव्यप्रकाश के टीकाकार

1. श्रीविद्याचक्रवर्ती– यामिमां शक्तिमभिव्यक्तां प्रतिभामाचक्षते।

तथाहि–

स्मृति र्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा।

बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकी मता।

प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः।

द्वे वर्त्मनी गिरो देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।

प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्

काव्यप्रकाश 1,3 सम्प्रदायप्रकाशिनी टीका

2. **रविभट्टाचार्य** – अस्य कारणमाहेति –अस्य चमत्कारस्य · · · उद्भवे
निर्माणे समुल्लासे चेति। इदमत्राकूतम् शक्त्यादित्रयं
काव्यकरण इव चमत्कारोऽपि हेतुः।

काव्यप्रकाश 1,3 मधुमतीटीका

3. **परमानन्द भट्टाचार्य** – अत्र नव्याः–प्रतिभैव काव्यस्य कारणं नापरौ।
ताभ्यां विनाऽपि बालकेन काव्योत्पादनात्
इत्याहुः यत्र त्रयः समुदिताः न तु व्यस्ताः
तत्राप्येक एव प्रतिभारूपो हेतु र्न तु त्रयो
हेतव इति वृत्तिग्रन्थमपि सङ्गमयन्ति।
काव्यप्रकाश 1,3 विस्तारिकाटीका

4. **सिद्धिचन्द्र गणि** – अत्र तस्य काव्यस्य उद्भवे निर्माणे समुल्लासे त्रयः
शक्तिनिपुणताभ्यासा हेतुरित्युक्तम्।
तदपि तुच्छम्। डिम्भादावपि काव्योद्भवदर्शनात्
शक्तेरेव हेतुत्वात्।

काव्यप्रकाश 1,3 काव्यप्रकाशखण्डनटीका

5. **गोकुलनाथ उपाध्याय** –कवित्वं बीजभूतः.... संस्कारविशेषो
भावनाख्यः प्रतिभानामा प्रणिधानसहकृते
चेतसि यो झटित्युद्बुध्यते क्लिष्टपदार्थगोचरः
संस्कारः सा प्रतिभा। तदुक्तम्–
मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।।
· · · सर्वाणि शास्त्राणि काव्याङ्गानी
त्युक्तं भवति ।

न तत्पदं ना तद् वाक्यं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः।।
इति साहित्यमीमांसायाम्।

विद्या: समस्ता यत्राङ्गमहो भारो महान् कवे:।

इत्यग्निपुराणे च स्मरणात्। काव्यप्रकाश 1,3 विवरणटीका

प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों की काव्य में समान रूप से उपयोगिता है क्योंकि इनमें से किसी एक की न्यूनता होने पर काव्य में चमत्कार नहीं आयेगा। ये तीनों हेतु काव्य के लिए अपेक्षित हैं। यदि किसी कवि में काव्यप्रतिभा नहीं है तो व्युत्पत्ति और अभ्यास से भी काम नहीं चल पायेगा। किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास के बिना भी प्रतिभा मन्द पड़ जाती है। इसी कारण मम्मट ने अपने काव्यहेतु के लक्षण में इन तीनों को सम्मिलित रूप में काव्य का कारण माना है अलग अलग नहीं।

काव्यभेद

स्वरूप के आधार पर काव्य के दृश्य और श्रव्य ये दो भेद किये जाते हैं। शैली के आधार पर गद्य, पद्य और मिश्र (चम्पू) नामक तीन भेद हैं। व्यङ्ग्य के प्रधान, समान और अप्रधान होने पर उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद होते हैं। मम्मट तथा मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों ने इन आधारों पर अपने काव्यभेद प्रदर्शित किये हैं।

मम्मट एवं मम्मटोत्तरवर्ती आचार्य

1. **मम्मट**-इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै:कथित:।

   अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।।

   शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्वरं स्मृतम्।।

   काव्यप्रकाश 1,4-5

2. **विश्वनाथ** - दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुन: काव्यं द्विधा मतम्।

   साहित्यदर्पण 6,1

   काव्यं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम्।

   वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।।

   साहित्यदर्पण 4,1

   केचिच्च चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति। तदाहु:-

   शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्वरं स्मृतम्।। इति

तन्न। यदि हि अव्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्याभावस्तदा
तस्य काव्यत्वमपि नास्ति इति प्रागेवोक्तम्।
ईषद्व्यङ्ग्यत्वमिति चेत् किं नामेषद्व्यङ्ग्यत्वम्?
आस्वादव्यङ्ग्यत्वमनास्वादव्यङ्ग्यत्वं वा?
आद्ये प्राचीनभेदयोरेवान्तःपातः द्वितीये त्वकाव्यत्वम्।
वही 4,14 वृत्तिभाग

3. **श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य**– काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं चमत्कार-जीवातुतावच्छेदकम्।

काव्यामृत 1,4 वृत्ति

4. **जयदेव**– यद् व्यज्यमानं मनसः स्तैमित्याय स नो ध्वनिः।
अन्यथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यमापतितं द्विधा।।
चन्द्रालोक पृ.-106

5. **पण्डितराजजगन्नाथ**–तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।
रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण

6. **विद्याराम**-शब्दार्थाडम्बराव्यङ्ग्यं चित्रकाव्यं तथाऽधमम्।
रसदीर्घिका पृ. 56

7. **श्रीकृष्ण कवि**–अव्यङ्ग्यमपि यच्चारु तत्काव्यं चित्रमिष्यते।
मन्दामरन्दचम्पू पृ. 187

8. **नरसिंह कवि** –व्यङ्ग्यस्यास्फुटत्वेऽधमं काव्यं चित्रमिति कथ्यते।
नञ्जराजयशोभूषण पृ. 20

9. **विश्वनाथदेव**– यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारो वाच्यादधिकतरो भवेत्।
ध्वनिकाव्यमिदं प्राहुः पारिभाषिकमुत्तमम्।।
वाच्याधिकचमत्कारि नो व्यङ्ग्यं यत्र भासते।
तदेव मध्यमं काव्यं कविवृन्दै र्निगद्यते।
अलङ्कारकृतानन्दसन्दोहो यत्र भासते।
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विधा तत्परिकीर्तितम्।
साहित्यसुधासिन्धु 1,5-7

10. **छज्जूराम शास्त्री**–यत्र शब्दस्तथैवार्थो गौणभावमुपाश्रितौ।

कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तत्काव्यं ध्वनिरुत्तमम्।।

यत्र वाच्यचमत्कारो व्यङ्ग्यार्थापेक्षया पुनः

तद् वदन्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यं काव्यं तु मध्यमम्।

शब्दार्थयोश्चमत्कारः परस्परापेक्षया।

प्रधानं यत्र तज्ज्ञेयमधमं चित्रसञ्ज्ञकम्।

साहित्यबिन्दु 1,11-13

11. **अच्युतराय**- रसालङ्कारमुख्यत्वभेदेनेदं भवेद् द्विधा।

सरसाख्यं च चित्राख्यं स्वरम्भोरुशरीरवत्।

तत्राद्यं तु द्विधा व्यङ्ग्यप्रधानगुणभावतः।

प्रथमं ध्वनिसञ्ज्ञं स्यान्नानाभेद्युत्तमोत्तमम्।

द्वितीयं तूत्तमं ज्ञेयमष्टधा परिकीर्तितम्।

द्विधान्यमपि भूर्येव मध्यमं चाधमं क्रमात्।

गुणप्रधानभावेन मिथः शब्दार्थयोः स्थितेः।।

साहित्यसार पृ. 15,16,20

विश्वनाथदेवकृत त्रिविध काव्यभेद

मम्मटोत्तरवर्ती विश्वनाथदेव ने मम्मट की भाँति काव्य के तीन भेद किये हैं- 1. उत्तम 2. मध्यम और 3, चित्र (अधम)।

1. **उत्तमकाव्य**

यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारो वाच्यादधिकतरो भवेत्।

ध्वनिकाव्यमिदं प्राहुः पारिभाषिकमुत्तमम्।।[1]

जहाँ वाच्यार्थ (अभिधेयार्थ) की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कार अधिक मात्रा में होता है इसको आचार्यों ने पारिभाषिक ध्वनिकाव्य नाम दिया है और यह काव्य उत्तम होता है।

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,5

स्वशास्त्रसिद्धः सङ्केतः पारिभाषिकः– शास्त्रविशेष में ही किसी विशेष प्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त शब्द पारिभाषिक कहलाता है। काव्यशास्त्र में ध्वनि शब्द उत्तम काव्य रूप अर्थविशेष में प्रयुक्त होता है। जैसे–

दूति श्वासविशेष एष किमहो चण्डि त्वरा धावनाद्
विभ्रष्टालकवल्लरी कथमहो त्वन्नाथपादार्पणात्।
निर्मृष्टाधररागपल्लवरुचिस्त्वत्कार्यसञ्जल्पनाद्
वासस्तस्य किमङ्गसङ्गतमहो विश्वासहेतोस्तव॥[1]

यह उदाहरण काव्यप्रकाश के निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्[2] इस उदाहरण से साम्य रखता है। केवल अन्तर इतना है कि साहित्यसुधासिन्धु के उदाहरण में नायिका और दूती के वाकोवाक्य अर्थात् प्रश्नोत्तर दिये हैं और काव्यप्रकाश में नायिका की दूती के प्रति उक्ति है। दोनों उदाहरणों में दूती का परकामुकोपभोग व्यञ्जना से प्रतीत हो रहा है।

ध्वनिकाव्य में वाच्यार्थ की तुलना में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती है। इस सिद्धान्त को प्रायः सभी आचार्य एकमत से स्वीकार करते हैं।

2. **मध्यमकाव्य**

वाच्याधिकचमत्कारि नो व्यङ्ग्यं यत्र भासते।
तदेव मध्यमं काव्यं कविवृन्दै र्निगद्यते॥[3]

जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारयुक्त नहीं प्रतीत होता है। विद्वज्जनों ने उसी को मध्यम काव्य कहा है। जैसे–

रोलम्बो मधुपः पिकः परभृतो रन्ध्रानुसारी मरुत्–
कीरो भाषितवाक्यमात्रपठनप्रौढः पयोदो जडः।
हंसः सन्ततपक्षपातनिरतस्तस्मादवस्थामिमा–

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,3
2. काव्यप्रकाश 1,2
3. साहित्यसुधासिन्धु 1,6

मुत्काहं प्रहिणोमि केन कठिनस्वान्ताय कान्ताय मे।।[1]

यहाँ मधुप आदि शब्दों से उपस्थित किये गये व्यङ्ग्यार्थ की उपस्थिति के बिना वाक्यार्थ का ज्ञान न होने से यह वाच्यसिद्‌यङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य है।

चित्रकाव्य

अलङ्कारकृतानन्दसन्दोहो यत्र जायते।।

चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विधा तत्परिकीर्तितम्।[2]

जहाँ अलङ्कारों से होने वाला आनन्दसमूह उत्पन्न होता है वह चित्रकाव्य है। शब्द और अर्थ सम्बन्धी दो भेदों के कारण यह दो प्रकार का कहा है।

इस लक्षण की यह विशेषता है कि इसमें व्यङ्ग्यार्थ के होने न होने की कोई शर्त ही नहीं लगाई गई है जबकि आचार्य मम्मट ने काव्यलक्षण में इसे अवर काव्य इसलिये बतलाया है क्योंकि यह व्यङ्ग्यार्थरहित होता है।[3] किन्तु साहित्यसुधसिन्धु के इस लक्षण में चित्र को न तो अवर काव्य बताया है और न ही इसको व्यङ्ग्यार्थ रहित बताया है।

चित्रकाव्य के दो भेद हैं–1. शब्दचित्र और 2. अर्थचित्र।

(शब्दचित्र) शब्दालङ्कारचमत्कारिकाव्य जैसे–

न्यक्कारा: कैरवाणामखिलकमलिनीकाननानन्दपूराः

सायं धीराभिसारागतकमलमुखीप्रौढतापानुकाराः।

ध्वान्तारातिप्रहाराः प्रथमसमुदये सान्ध्यधाराधराभा–

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,4
2. वही 1,7
3. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्वरं स्मृतम्। काव्यप्रकाश 1,6

स्तारा नाराचधारास्रवविभवकरास्ते कराः सन्तु सौराः॥[1]

यहाँ सूर्योदय का वर्णन है। इस श्लोक में न् क् र् न् स् त् आदि वर्णों का तथा कर इस वर्णसमूह की अनेक बार आवृत्ति हुई है। इस कारण यहाँ वृत्त्यनुप्रास नामक शब्दालङ्कार है।

2. (अर्थचित्र) अर्थालङ्कारचमत्कारिकाव्य जैसे-

दुर्वारारातिराजीवनदवदहनः कौङ्कुमो दिग्वधूनां

सर्वाङ्गीणोऽङ्गरागस्त्रिभुवनभवनध्वान्तविध्वंसदीपः।

त्वद्दोरुद्दामदर्वीकरमुखहुतभुग्भूतधात्रीपुरन्ध्र्या

वासो माञ्जिष्ठमुर्वीरमणकुलमणे जागरीति प्रतापः॥[2]

यहाँ जागरीति प्रतापः इस वाक्यांश में अचेतन प्रताप की व्यापन क्रिया (रूप उपमेय) में चेतन व्यक्ति की जागरण क्रिया (रूप उपमान) की सम्भावना होने से क्रियोत्प्रेक्षा है। जहाँ उपमेय में उपमान का सम्भावन अर्थात् उत्कटैककोटिक संशय पाया जाये वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। उत्प्रेक्षावाचक इवादि पदों का प्रयोग न होने से यह प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा है। प्रताप रूप एक उपमेय के ऊपर दवदहन आदि अनेक उपमानों का आरोप किया गया है और श्लेषाभाव है। अतः यहाँ अश्लिष्टशब्दनिबन्धनमाला रूपक है। साथ ही यहाँ अरातिराजी में वन का आरोप प्रताप में दवदहन के आरोप में निमित्त है। अतः यहाँ अश्लिष्टशब्दनिबन्धनमालापरम्परितरूपक है। यह रूपक उत्प्रेक्षा को पुष्ट कर रहा है। इस कारण यहाँ रूपकानुप्राणित उत्प्रेक्षा है।

उपर्युक्त इन दोनों श्लोकों में क्रमशः कविनिष्ठसूर्यविषयक तथा राजविषयक भाव होने पर भी अनुप्रास और उत्प्रेक्षा अलङ्कार ही चमत्कार के कारण हैं। अतः यहाँ इन दोनों अलङ्कारों की ही प्रधानता स्वीकार करनी चाहिए। पहले में अनुप्रास और दूसरे उदाहरण में उत्प्रेक्षा चमत्कार को उत्पन्न करने वाली है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि विश्वनाथदेव के पूर्ववर्ती

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,5
2. वही 1,6

श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य (14वीं शताब्दी) ने काव्यामृत नामक काव्यप्रकाश के व्याख्याग्रन्थ में काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं चमत्कारजीवातुतावच्छेदकम् (काव्यामृत 1,4 वृत्ति) कहकर चमत्कार को काव्य की आत्मा या प्राण बताया हैं इससे यह सिद्ध होता है कि उनके समय तक चमत्कारसम्प्रदाय स्थापित होने लगा था। उनके उत्तरवर्ती विश्वेश्वर कविचन्द्र ने अपने ग्रन्थ चमत्कारचन्द्रिका में इस सम्प्रदाय को स्थापित कर दिया था। उनके बाद विश्वनाथदेव ने अपनी कृति साहित्यसुधासिन्धु के काव्यभेद के इस प्रसङ्ग में चमत्कार शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है।

वक्रोक्तिश्च चमत्कारिण्युक्तिः,[1] यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारो,[2] वाच्याधिक-चमत्कारि,[3] शब्दालङ्कारचमत्कारि यथा, अर्थालङ्कारचमत्कारि यथा, अत्र चोत्प्रेक्षा चमत्कारकारिणी अनुप्रासोत्प्रेक्षे चमत्कारहेतू और तदाहितचमत्कारानन्तरम्।[4] इन प्रयोगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विश्वनाथदेव के अनुसार तीनों प्रकार के काव्यभेदों तथा सभी अलङ्कारों के लिये चमत्कारतत्त्व अनिवार्य है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र (अवर) काव्य में भेद है। अधिकांश आचार्यों ने काव्य की ध्वनिरूपता का समर्थन किया है। ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्रकाव्य में विभेदक तत्त्व है व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य। ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता हैं जबकि गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से दब कर गौण हो जाता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र दोनों में व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति तो रहती है किन्तु वहाँ व्यङ्ग्यार्थ की गौणता बराबर बनी रहती है। इन दोनों की विभेदक रेखा यह हो सकती है कि अवर काव्य में जो व्यङ्ग्यार्थ की गौणता वह जान बूझकर की जाती है जबकि गुणीभूतव्यङ्ग्य में होने वाली व्यङ्ग्यार्थ की गौणता अनजाने होती है। इस जाने अनजाने की कसौटी का मूलाधार है कविविवक्षा। जहाँ कवि की विवक्षा शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों के

1. सहित्यसुधासिन्धु 1,2 वृत्ति
2. वही 1,5
3. वही 1,6
4. वही 1,7 वृत्ति

प्रतिपादन में है वहाँ व्यङ्ग्य की सत्ता होने पर भी उसे अधम काव्य माना जाता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य में कवि की विवक्षा वस्तुतः व्यङ्ग्य को लेकर ही होती है। अलङ्कारादि को लेकर नहीं। इसी कारण आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा g§ viFkX; RufuoE;Z lkyÄ Ekjk ध्वनौ मतः।[1] जो अलङ्कार बिना किसी यत्न के स्वाभाविक रूप से आ जाता है वह गुणीभूतव्यङ्ग्यध्वनि बन जाता है। उन्होंनें पृथक् यत्नसाध्य यमक आदि अलङ्कारों का परित्याग करने का परामर्श दिया है। गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य और चित्रकाव्य में यही भेद समझा जा सकता है।

ध्वन्यादिकाव्यभेदों का अनौचित्य

विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु में मम्मटप्रतिपादित काव्य के उत्तम, मध्यम और चित्र इन तीनों भेदों के वर्गीकरण को अनुचित बताया है। उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन इस प्रकार किया है–

वस्तुतस्तु अनुचितोऽयं ध्वनित्वादिना विभागः। तथा हि एतेषु त्रिषु रसादिकं न प्रतीयते प्रतीयते वा। नाद्यः तदा काव्यत्वविरहापत्तेः। अथ प्रतीयते तदा कथं ध्वनित्वादिना विभागः।[2]

वास्तव में तो ध्वनित्वादि के रूप में (काव्य का) यह विभाग (वर्गीकरण) ठीक नहीं है अर्थात् काव्य के ध्वनि नामक उत्तमकाव्य तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यमकाव्य एवं चित्रकाव्य (अवरकाव्य) इस रूप में भेद नही करने चाहिए और यह विभाग इसलिए भी मानना ठीक नहीं है– आप बताइए इन तीनों में रस, रसाभास, भाव, भावाभासादि की प्रतीति नहीं होती है अथवा होती है? इनमें से पहला पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यदि रस की प्रतीति नहीं होती तो काव्यत्वाभाव की प्राप्ति माननी पड़ेगी अर्थात् काव्य के ये तीनों ही भेद काव्य नहीं कहे जा सकेंगे क्योंकि रसध्वनि होने पर ही काव्य को काव्य कहा जा सकता है। और यदि

1. ध्वन्यालोक 2,6 तथा वृत्ति
1. साहित्यसुधासिन्धु 1,7 वृत्ति

दूसरे विकल्प के अनुसार रस की प्रतीति होती है ऐसा माना जाये तो रस तीनों स्थलों में एक जैसा है उसका (ध्वनि या उत्तम) काव्य आदि के रूप में वर्गीकरण क्यों किया जाये? क्योंकि रस तो पूर्ण आनन्द एवं धन स्वरूप है उसके घटिया या बढ़िया अथवा थोड़ा या अधिक इस रूप में भेद नहीं हो सकते। इनके मत के अनुसार काव्य वही है जिसमें रसास्वाद हो अथवा जिसमें ब्रह्मानन्दसहोदर परमानन्द को उत्पन्न करने वाला रस हो[1] यह आनन्द तीनों में एक जैसा है।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथदेव ने आचार्य मम्मट के द्वारा प्रतिपादित उत्तम, मध्यम और अवर इन तीन काव्यभेदों को पहले स्वीकार किया है किन्तु बाद में विशेष रूप से उन्होंने ध्वनि के आधार पर भेद करने का अनौचित्य सिद्ध किया है।

उनके इस ध्वनि विवेचन में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्यके शब्दों के साथ पूर्ण रूप से समानता है।[2] श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य एवं विश्वनाथदेव दोनों ही साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुयायी प्रतीत हो रहे हैं। विश्वनाथ ने वाक्य को काव्य माना है।[3] विश्वनाथदेव ने उत्तम, मध्यम और अवर काव्यों के भेदों का खण्डन किया है। पूर्ववर्ती आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि इन काव्यभेदों का खण्डन करते हुए केवल रस को ही काव्य माना है। उनका कहना है–

यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्–काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति, तत्किं वस्त्वलङ्काररसा-दिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा उत रसादिरूपमात्रो वा? नाद्यः प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः। द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः। · · · रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात्।[4]

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा ध्वनि है इस रूप में जो कहा है–उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या वस्तु, अलङ्कार और रस इन तीनों की ध्वनि काव्य की आत्मा है या केवल रसादिध्वनि काव्य की आत्मा है? यदि पहला पक्ष माना जाये तो पहेली आदि में भी काव्यत्व मानना पड़ेगा। परन्तु पहेलियों को कोई भी आचार्य काव्य नहीं मानता क्योंकि उनमें रस नहीं होता और सरस वाक्य ही काव्य माना जाता है अन्य नहीं।

---

1. जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
   यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते। साहित्यसुधासिन्धु 1,4
2. ननु काव्यस्य ध्वनित्वादिना यः कृतो विभागः · · · काव्यामृत 1,5 वृत्तिभाग
3. वाक्यं रसात्मकं काव्यं · · · । साहित्यदर्पण 1,2
4. वही 1,2 वृत्तिभाग

आनन्दवर्धन ने चित्रकाव्य को काव्य की पङ्क्ति से बहिष्कृत किया है। उन्होंने कहा है कि काव्य के दो ही भेद हैं–1. ध्वनि और 2. गुणीभूत- व्यङ्ग्य। इनमें से पहले में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता रहती है और दूसरे में गौणता। चित्रकाव्य काव्य की प्रतिकृतिमात्र है वस्तुतः वह काव्य नहीं होता है।[1] इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में आचार्य मम्मट द्वारा चित्रकाव्य नामक इस तृतीय भेद का इस युक्ति के आधार पर खण्डन किया है कि जब इसमें व्यङ्ग्य ही नहीं है तो फिर इसे काव्य भी नहीं माना जा सकता और यदि इसमें थोड़ा व्यङ्ग्य होता है एवं इसमें आस्वाद्यता है तो इसका ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य भेदों के अन्दर ही अन्तर्भाव हो सकता है।[2] इस प्रकार आचार्य विश्वनाथदेव, आचार्य आनन्दवर्धन और आचार्य विश्वनाथ तीनों ही चित्रकाव्य को स्वीकार नहीं करते हैं।

2. चित्र (अवर) काव्य भेद को स्वीकार करने में औचित्य

चित्रकाव्य को पृथक् काव्य न स्वीकार करने वाले आचार्य या तो इसका अन्तर्भाव ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के अन्दर करते हैं अथवा व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनशक्तिशून्य होने के कारण इसे काव्यसंज्ञा प्रदान नहीं करते हैं।

वस्तुतः ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य में चित्रकाव्यों का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि चित्रकाव्य में वाच्यसौन्दर्य की प्रमुखता रहती है और ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता रहती है। प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति इस नियम के अनुसार वाच्यसौन्दर्य की प्रमुखता वाले शब्दचित्र (शब्दालङ्कार) और अर्थचित्र (अर्थालङ्कार) को काव्य मान ही लेना चाहिये। यद्यपि इनमें रसध्वनि की गौणता रहती है किन्तु यहाँ रस का तिरोधान नहीं होता ऐसा स्वयं विश्वनाथदेव

---

1. गुणप्रधानभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते।।
ध्वन्यालोक 3,42
2. केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति। तदाहुः-शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्वरं स्मृतम् इति तन्न, यदि हि अव्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति प्रागेवोक्तम्। ईषद् व्यङ्ग्यत्वमिति चेत्··· आस्वाद्यव्यङ्ग्यत्वम्···। प्राचीनभेदयोरेवान्तः पातः। साहित्यदर्पण 4,14 वृत्तिभाग
3. अर्थचित्रे गुणालङ्काराहितचमत्कारेण रसस्तिरोधीयत इति चेत् न अंनवबोधात्। साहित्यसुधासिन्धु 1,2

स्वीकार करते हैं।[3] वाच्य और व्यङ्ग्य में प्रधानता और अप्रधानता का निर्णय चारुत्व के आधार पर होता है यह आचार्य आनन्दवर्धन का सिद्धान्त है।[1] अनुभव यह बताता है कि स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा–जैसे अनुप्रासालङ्कारसमन्वित तथा विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्[2] जैसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार के स्थलों में वाच्य का सौन्दर्य स्पष्ट रूप से है। परन्तु इसके साथ ही पहले श्लोक में गङ्गाविषयकरतिभावध्वनि तथा दूसरे श्लोक में भयानकरसध्वनि की प्रतीति हो रही है। इन दोनों स्थलों पर भावध्वनि और रसध्वनि होने से काव्यत्व अक्षुण्ण रूप से रह रहा है। गुणों और अलङ्कारों का रस से कोई विरोध नहीं होता अपितु यह रस के उद्‌बोधक होते हैं। इस तथ्य को विश्वनाथ और विश्वनाथदेव यह दोनों ही आचार्य स्वीकार करते हैं।[3] फिर इनका चित्रकाव्य को स्वीकार न करना वदतोव्याघात है। क्योंकि ये एक ओर तो गुणालङ्कार को रस का उत्कर्षक मानते हैं दूसरी ओर इनसे समन्वित चित्रकाव्य को अकाव्य की सञ्ज्ञा प्रदान करते हैं। वस्तुतः चित्रकाव्य ध्वनि का एक भेद अवश्य है किन्तु ध्वनिभेद होते हुए भी उसमें वाच्यसौन्दर्य स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस कारण जैसे ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य में व्यङ्ग्यत्वसाम्य होते हुए भी भेद होता है क्योंकि ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य में वाच्यार्थ की प्रधानता और व्यङ्ग्यार्थ की गौणता होती है वैसे ही गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्रकाव्य में वाच्यार्थ की प्रधानता होती है और व्यङ्ग्यार्थ की गौणता होती है–यह समानता है। दोनों ही ध्वनि के भेद होते हुए भी वाच्यसौन्दर्य की प्रधानता होने के कारण पृथक् पृथक् भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार विश्वनाथ और विश्वनाथदेव का चित्रकाव्यविरोधी मत उन्हीं की युक्तियों से खण्डित हो जाता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने चित्रकाव्य को ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यों से भिन्न प्रकार का माना है और उसको मुख्य

---

1. चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।
ध्वन्यालोक 1,13 वृत्ति

2. काव्यप्रकाश 1,4–5

3. (क) वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्योत्कर्षकाः
उत्कर्षहेतवस्ते स्युर्गुणालङ्काररीतयः।। साहित्यदर्पण 1,3

(ख) ··· गुणालङ्कारा हि रसोद्‌बोधकास्तथा च तज्ज्ञाने तदाहित-चमत्कारानन्तरं रसोद्‌बोधो युज्यते एवेति कथं न ध्वनित्वम्?
साहित्यसुधासिन्धु 1,7 वृत्ति

काव्यभेद नहीं स्वीकार किया है एवं उसको काव्य की अनुकृति (नकल) मात्र कहा है।[1]

वास्तव में आचार्य आनन्दवर्धन का यह मत विचारणीय है। आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य के ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक दो भेद स्वीकार किये हैं।[2] जैसे उन्होंने ये दो भेद स्वीकार किये हैं[2] वैसे ही उन्हें शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों से समन्वित उस चित्र नामक तीसरे भेद को भी स्वीकार कर लेना चहिये जहाँ वे अलङ्कारभावध्वनि और रसध्वनि को परिपुष्ट करें। काव्यप्रकाश के स्वच्छन्दोच्छलद् तथा विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात् इन दोनों श्लोकों में स्थित अनुप्रास और उत्प्रेक्षा अलङ्कार गङ्गाविषयकभावध्वनि और भयानकरसध्वनि को परिपुष्ट कर रहे हैं। अतः यह दोनों श्लोक काव्यकोटि को प्राप्त करने में सक्षम हैं भले ही यह काव्यकोटि अवर है। स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य का यह कथन है-

जहाँ नाना प्रकार के शब्द और अर्थ तथा उनके चारुत्वहेतु अलङ्कार रसादिपरक (रस के अङ्ग) होते हैं वह ध्वनि का विषय है।[3]

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब अलङ्कार किसी रस को पुष्ट कर रहे हों तो वे काव्य की कोटि में आ सकते हैं। किन्तु जब वे किसी रस को परिपुष्ट न करते हों तो वे काव्य नहीं कहे जा सकेंगे। इसके अतिरिक्त रसोपकारक इन अलङ्कारों में वाच्यवैचित्र्य और अस्फुटव्यङ्ग्यत्व नामक दो विशेषतायें मिलती हैं। इनमें व्यङ्ग्य अवश्य रहता है भले ही वह न्यूनमात्रा में रहे। इस कारण रसोपकारक, वाच्यवैचित्र्यप्रधान तथा अस्फुटव्यङ्ग्यसमुपेत इस भेद की पृथक् सत्ता होती है।

सारबोधिनी के टीकाकार श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने आचार्य आनन्दवर्धन की काव्यभेदसम्बन्धित कारिका को पूर्वपक्ष में रखते हुए चित्रकाव्य

---

1. ततोऽन्यद् रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रं। न तन्मुख्यं काव्यम् काव्यानुकारो ह्यसौ। ध्वन्यालोक 3,42 वृत्ति
2. ध्वन्यालोक 3,41
3. वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः॥ वही 2,4

को न मानने के उनके मत का खण्डन इस प्रकार किया है–अत्र केचित् चित्रं न काव्यभेदः। व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये ध्वनित्वम् तदन्यथा गुणीभूतत्वप्रकारान्तराभावात्। तदुक्तम्–

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।

उभे काव्ये तदन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते।। ध्वन्यालोक 3,44

इति तन्न, वाचकवाच्यवैचित्र्यप्रतीतिव्यवहितप्रतीतिकरसत्वस्यास्फुटव्यङ्ग्यत्वस्य तृतीयप्रकारस्य सम्भवादिति।[1]

श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य का कथन है- इस विषय में किन्हीं आनन्दवर्धनाचार्य जैसे विद्वानों का कहना है–चित्र नामक व्यङ्ग्यार्थरहित पृथक् काव्य का भेद नहीं होता क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान होने पर ध्वनिकाव्य होता है और उसके अप्रधान होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य होता है। इन दो भेदों के अतिरिक्त जो तीसरा काव्य होता है। वह व्यङ्ग्यहीन होता है। उसी को चित्र कहते हैं ऐसा कहा भी जाता है कि व्यङ्ग्यार्थ के गौण प्रधान होने पर ध्वनि और गुणीभूत नामक दो भेद होते हैं जहाँ व्यङ्ग्य होता ही नहीं है उसे ही चित्रकाव्य कहते हैं। हमारे मत में ध्वनिकार आनन्दवर्धन का यह मत ठीक नहीं है कि काव्य के तीसरे चित्रकाव्य नामक भेद में व्यङ्ग्य होता ही नहीं है। काव्य का तीसरा यह भेद भी व्यङ्ग्ययुक्त हो सकता है। इस भेद में वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) की प्रतीति से रस व्यवहित (व्यवधानयुक्त) हो जाता है। इस कारण विलम्ब से रस की प्रतीति होती है परन्तु विलम्ब से होने वाली ये रसप्रतीति होती अवश्य है। इसमें व्यङ्ग्य अस्फुट होता है इस कारण ध्वनि की तुलना में यह काव्यभेद उत्कृष्ट नहीं होता। इस प्रकार ध्वनिकाव्य का चित्र नामक यह तृतीय प्रकार भी सम्भव है।

इन युक्तियों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जब ये शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार रसपरक हों तो ये काव्य की कोटि में आ जाते हैं तथा काव्य की नकल या अनुकृतिमात्र न होकर काव्य बन जाते हैं। स्वयं आचार्य आनन्दवर्धन भी ऐसा ही मानते हैं।

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।

ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः।।[2]

1. काव्यप्रकाश 1,6 सारबोधिनी टीका।
2. ध्वन्यालोक 1,13 वृत्ति

जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यबोधन के प्रति तत्पर होकर स्थित हों उसी को सङ्कररहित ध्वनि का विषय समझना चाहिए।

जहाँ अनुप्रास और यमक आदि से किसी रस की सम्पुष्टि न हो केवल शब्दों का ही जाल बुना गया हो वहाँ भले ही इनको काव्य न माना जाये। इसलिए चित्र (अवर) काव्य को भी काव्य का पृथक् भेद मानने में कोई गौरव नहीं है और इस भेद को भी मानना आवश्यक हो जाता है।

चित्र (अवर) काव्यभेद को स्वीकार करने में अनौचित्य

आचार्य विश्वनाथदेव काव्य के ध्वनि नामक भेद में ही चित्रकाव्य का अन्तर्भाव करते हैं और इस भेद को पृथक् नहीं मानते। उनका कहना है-

> **अथ चित्रे गुणालङ्काराहितचमत्कारेण रसस्तिरोधीयते इति चेत् न, अनवबोधात्। तिरोधानं रसप्रतिबन्धो विलम्बेन प्रतिपत्तिर्वा। नाद्यः, तदा काव्यत्वविरहापत्तेः। नान्त्यः, गुणालङ्कारा हि रसोद्बोधकास्तथा च तज्ज्ञाने तदाहितचमत्कारानन्तरं रसोद्बोधो युज्यत एवेति कथं न ध्वनित्वम्?** [1]

और यदि पूर्वपक्षी की ओर से चित्रकाव्य में गुणों और अलङ्कारों के द्वारा स्थापित चमत्कार से रस का तिरोधान हो जाता है ऐसा कहा जाये तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि गुण और अलङ्कार से उत्पन्न चमत्कार के होने पर रस का तिरोधान होता है ऐसा ज्ञान नहीं होता है। प्रत्युत गुण और अलङ्कार तो रसोद्बोधक अथवा रसोत्कर्षक होते हैं। यहाँ पूर्वपक्षी द्वारा कहे गये तिरोधान का अभिप्राय रस को रोक लेना है अथवा विलम्ब से रस की प्रतीति होना है इनमें पहला अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि इसे मान लेने पर रस की प्रतीति के रुक जाने पर काव्यत्वाभाव की प्राप्ति होगी। इस प्रकार गुण और अलङ्कार से उत्पन्न चमत्कार को यदि रस का प्रतिबन्धक माना जाये तो जहाँ इन दोनों की स्थिति होगी वहाँ रस की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। परन्तु अनुभव यह बताता है कि ऐसे स्थलों में भी रस की प्रतीति होती है। दूसरा अर्थ भी ठीक नहीं है अर्थात् गुणालङ्कारों के चमत्कार के कारण रस की प्रतीति विलम्ब से होती है यह मानना भी उचित नहीं है क्योंकि गुणालङ्कार तो रस के ही उद्बोधक होते हैं और इन दोनों वस्तुओं (गुणालङ्कारों)

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,7 वृत्तिभाग

का ज्ञान होने पर तज्जन्य चमत्कार के अनन्तर (तत्काल या एकदम बाद ही) रस की प्रतीति होती है। इसलिए गुणालङ्कारों से समन्वित काव्य को ध्वनिकाव्य क्यों न कहा जाये?

इस युक्ति के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि अलङ्कारों से युक्त चित्रकाव्य को ध्वनि में अन्तर्हित मान लेना चाहिए उसकी पृथक् सत्ता नहीं हुआ करती। आचार्य विश्वनाथदेव गुण और अलङ्कारों को रस का प्रतिबन्धक नहीं मानते अपितु उनका कहना है कि ये दोनों ही तत्त्व रसध्वनि के उत्कर्ष को बढ़ाते हैं-

किञ्च गुणालङ्काराणां रसादिबोधप्रतिबन्धकत्वे-

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सभयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्।।
अजनि प्रतिदिनमेषा कर्दमशेषा मदङ्गसङ्गेन।
प्रतिनिशमपूरि यया मदक्षिसम्पातिभिः सलिलैः।।

इत्यादिरसध्वनौ तद्ग्रथनप्रयासो न स्यान्महाकवीनाम्।

ननु तर्हि स्वच्छन्देत्यादावुत्तमत्वापत्तिः। तत्रानुप्रासानामसमीचीनत्वेन तथाविधगङ्गाविषयकभावोत्कर्षप्रतीतेरनुत्तमत्वम्। अतएव महिमभट्टानामस्मिन् पक्ष एव पक्षपातः।[1]

और यदि गुण और अलङ्कारों से उत्पन्न चमत्कार को रस का प्रतिबन्धक माना जाता तो ऐसा होने पर अक्लिष्ट इत्यादि और अजनि इत्यादि इन दोनों रसध्वनि के श्लोकों में गुण और अलङ्कारों को गूँथ कर (सजाकर) रखने का प्रयास कालिदास जैसे महाकवियों की ओर से नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि गुण और अलङ्कार का चमत्कार रसोत्कर्ष को बढ़ाता ही है रस का प्रतिबन्धक नहीं होता।

अक्लिष्ट० इत्यादि श्लोक में शृङ्गाररसोचित प्रसाद और माधुर्य गुणोपेत वर्णरचना है और ल्, व्, त् आदि वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है। तरुपल्लवलोभनीयम् और बिम्बाधरम् में उपमालङ्कार है।

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,7 वृत्तिभाग

अजनि इत्यादि श्लोक में किसी विरही नायक अथवा किसी विरहिणी नायिका के द्वारा किसी के सामने अपनी दुर्दशा को प्रकट किया गया है। यहाँ विरहाग्नि से झुलसे अङ्गों का नदीजल को सुखाने की क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यहाँ असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध बताने के कारण असम्बन्धातिशयोक्ति है। विप्रलम्भश्रृङ्गार के अनुरूप यहाँ कोमल कान्त पदावली होने से माधुर्यगुण और अर्थवैमल्य होने से प्रसादगुण है।

उपर्युक्त दोनों श्लोकों में गुणों और अलङ्कारों से उत्पन्न संयोग और विप्रलम्भश्रृङ्गार की प्रतीति में किसी प्रकार की बाधा नहीं हो रही है प्रत्युत इन दोनों से उत्पन्न चमत्कार से श्रृङ्गाररस की परापुष्टि हो रही है।

अब शङ्का होती है कि यदि गुण और अलङ्कारों से उत्पन्न चमत्कार होने पर ही उत्तमकाव्य समझना चाहिए ऐसा माना जाये तो स्वच्छन्दोच्छलदच्छ इत्यादि श्लोकों को भी उत्तमकाव्य का उदाहरण मानना पड़ेगा। काव्यप्रकाश में पूरा श्लोक इस प्रकार दिया हुआ है–

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्वाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घाऽदरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्।।[1]

इस श्लोक में च्छ्, द्, क् आदि वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है।

उपर्युक्त शङ्का का निराकरण इस प्रकार है–क्योंकि वहाँ अनेक अनुप्रासों की असमीचीनता के कारण अर्थात् अनुप्रासों की प्रबल रूप में प्रतीति होने से उस प्रकार के प्रधान रूप से प्रतीति के योग्य गङ्गाविषयक कविनिष्ठरतिभाव के उत्कर्ष की प्रतीति न होने से अवरकाव्यत्व प्राप्त होता है इसलिए आचार्य महिमभट्ट ने भी इसी पक्ष में अपने मत का झुकाव दिखाया है। वस्तुतः यहाँ कवि की प्रतिभा का उट्टङ्कन अनुप्रास तक ही सीमित हो रहा है। रतिभाव को कवि की प्रतिभा पुष्ट नहीं कर रही है इसलिए यहाँ उत्तमकाव्य नहीं है। आचार्य महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में लिखा है–

---

1. काव्यप्रकाश 1,4

सौन्दर्यातिरेकनिष्पत्तयेऽर्थस्य काव्यक्रियारम्भः कवेः न त्वलङ्कारनिष्पत्तये।

न चालङ्कारनिष्पत्त्यै रसबन्धोद्यतः कविः।[1]

उनके अनुसार काव्यके सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए ही कवि का प्रयत्न होता है न कि अलङ्कारों का स्वरूप वर्णन करने के लिए। रसान्वित काव्य के निर्माण में तत्पर कवि अलङ्कारनिरूपण में प्रयत्न नहीं करता है। इसलिए जो अलङ्कार काव्य के रसादिलक्षण सौन्दर्य के अनुकूल होते हैं वही वास्तव में अलङ्कार कहलाते हैं। अनुप्रास और यमक तो शृङ्गारादि मधुररसों के सर्वथा विरुद्ध होते हैं। इसलिए इनकी बहुलता में रस सर्वथा दब जाता है। इन कोमल रसों को अभिव्यक्त करने के लिए ये अनुप्रासादि अलङ्कार अक्षम होते हैं अतः इनका रसों में परित्याग करना चाहिए।

उपर्युक्त युक्तियों से सिद्ध हो जाता है कि आचार्य विश्वनाथदेव के अनुसार चित्र नामक अवर काव्य की काव्य से पृथक् स्थिति नहीं है उसका अन्तर्भाव ध्वनिभेद में ही हो जाता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने भी अवरकाव्य की व्यङ्ग्यहीनता के कारण उसे काव्य की पङ्क्ति से ही बहिष्कृत कर दिया है। व्यङ्ग्यहीनता के कारण चित्रकाव्य को काव्यभेद नहीं माना जा सकता। आचार्य विश्वनाथदेव [illegible] को व्यङ्ग्यकाव्य में ही अन्तर्हित करते हैं जबकि आनन्दवर्धन [illegible] किसी भी कोटि का काव्य मानने को तैयार नहीं है।

आचार्य विश्वनाथदेव ने काव्य के उत्तम, मध्यम और अ[illegible] (चित्र) काव्य नामक अलग अलग काव्यभेदों का खण्डन किया है। उनकी युक्ति का आधार यह है कि रससत्त्वे काव्यसत्त्वम् रसाभावे काव्यत्वाभावः रस की प्रतीति होने पर काव्य मानना चाहिये और रस की अप्रतीति होने पर अकाव्य। उन्होंने इन तीनों में ही रस की प्रतीति मानी है और रस के होने पर ये तीनों एक ही ध्वनि नामक भेद के अन्तर्गत आ जाते हैं।[2]

---

1. व्यक्तिविवेक 2,75
2. वस्तुतस्तु अनुचितोऽयं ध्वनित्वादिना विभागः · · · · अथ
   प्रतीयते तदा कथं ध्वनित्वादिना विभागः।
   साहित्यसुधासिन्धु 1,7 वृत्ति

प्रमुख सन्दर्भग्रन्थ

संस्कृत हिन्दी

अलङ्कारकौस्तुभ	कविकर्णपूर
अलङ्कारचन्द्रिका	वैद्यनाथ
अलङ्कारतिलक	वाग्भट
अलङ्कारध्वनिविमर्श	कृष्णचन्द्र चतुर्वेद
अलङ्कारमञ्जूषा	देवशङ्कर पुरोहित
अलङ्कारशेखर	केशवमिश्र
अलङ्कारसर्वस्व	रुय्यक
अलङ्कारसुधा (कुवलयानन्द टीका)	नागेश भट्ट
अष्टाध्यायी	पाणिनि
आचार्य मम्मट और काव्यप्रकाश	राजकिशोर सिंह
आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र	आनन्दकुमार श्रीवास्तव
औचित्यविचारचर्चा	क्षेमेन्द्र
एकावली	विद्याधर
कविकण्ठाभरण	क्षेमेन्द्र
कश्मीर का संस्कृत साहित्य को योगदान	वेदकुमारी
काव्यकौमुदी	हरिदास
काव्यकौस्तुभ	बलदेव विद्याभूषण
काव्यपरीक्षा	श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य
काव्यप्रकाश	ज्योत्स्नामोहन द्वारा सोलह टीकाओं का संग्रह
काव्यप्रकाश	लेकिमणि दाहाल
काव्यप्रकाश	वामनाचार्य झलकीकर
काव्यप्रकाश	विश्वेश्वर

काव्यदर्पण	राजचूडामणि
काव्यदीपिका	कान्तिचन्द्र भट्टाचार्य
काव्यमीमांसा	राजशेखर
काव्यविलास	रामदेव चिरंजीव भट्टाचार्य
काव्यशास्त्रविमर्श	कृष्णकुमार
काव्यसत्यालोक	ब्रह्मानन्द शर्मा
काव्यस्वरूप, सौन्दर्य एवं चमत्कार	महेश भारतीय
काव्यादर्श	दण्डी
काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
काव्यामृत	श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य
काव्यालङ्कार	भामह
काव्यालङ्कार	रुद्रट
काव्यालङ्कारकारिका	रेवाप्रसाद द्विवेदी
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति	वामन
काव्यालोक	हरिप्रसाद
कुवलयानन्द	अप्पय दीक्षित
चन्द्रालोक	जयदेव
चमत्कारचन्द्रिका	विश्वेश्वर कविचन्द्र
चमत्कारविचारचर्चा	रामप्रताप
त्रिविधाकाव्यसमीक्षा	रामप्रताप
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
नञ्जराजयशोभूषण	नरसिंह कवि
नाट्यशास्त्र	भरत
पातञ्जलमहाभाष्य	पतञ्जलि
भारतीयसाहित्यशास्त्र	बलदेव उपाध्याय
मन्दारमरन्दचम्पू	श्रीकृष्णशर्मा
मालविकाग्निमित्र	कालिदास
रसगङ्गाधर	पण्डितराजजगन्नाथ
रामचरितमानस	तुलसीदास
वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक

वैदिकसाहित्यसौदामिनी	वागीश्वर विद्यालङ्कार
व्यक्तिविवेक	महिमभट्ट
शिशुपालवध	माघ
संस्कृत काव्य परिभाषाओं का आलोचनात्मक अध्ययन	मृदुला जोशी
संस्कृत साहित्य का इतिहास	बलदेव उपाध्याय
सरस्वतीकण्ठाभरण	भोजदेव
साहित्यदर्पण	योगेश्वर शर्मा द्वारा सम्पादित टीका संग्रह
साहित्यदर्पण	विश्वनाथ (विमलाटीका)
साहित्यबिन्दु	छज्जूराम शास्त्री
साहित्यमीमांसा	बदरीनाथ झा
साहित्यसन्दर्भ	शिवजी उपाध्याय
साहित्यसार	अच्युतराय
साहित्यसार	सोमेश्वर शर्मा
साहित्यसिद्धान्तसमीक्षा	वायुनन्दन पाण्डेय
साहित्यसुधासिन्धु	विश्वनाथदेव (सम्पादक रामप्रताप)
साहित्यालोचन	श्यामसुन्दरदास

कोश

आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिवराम
शब्दकल्पद्रुम	राधाकान्तदेव
हिन्दी शब्दसंग्रह	मुकुन्दीलाल राजवल्लभ सहाय

English Books

Aesthetic Principles of Acharya Kshemendra	Smt. V. K. sharma
Form and substance	Eli Fischer Jorgensen Denmark
Kavya Prakasha of Mammata	Gajendra Gadkar
Some concepts of Alamkara Shastra	V. Raghavan
The Aesthetics of Wonder	A. V. Subramanian
The History of Sanskrit Poetics	S.K. De
The Poetic Light (Kavya Prakasha)	R.C. Dvivedi



प्रो० रामप्रताप

वेदालङ्कार, एम०ए०, साहित्याचार्य, पीएच०डी०
जन्म : 26 जुलाई, 1936
जन्मस्थान : दादरी, जिला गौतमबुद्धनगर, उत्तरप्रदेश
वर्तमान पता : 15/2, त्रिकूटनगर, जम्मूतवी-180012

सेवाएँ

अध्यापन : व्याख्याता: विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर (1962-1964), जम्मूविश्वविद्यालय (1964-1977), प्रवाचक : जम्मू विश्वविद्यालय (1977-1985), आचार्य (प्रोफेसर) जम्मू विश्वविद्यालय (1985-1996), कलासङ्कायाध्यक्ष जम्मू विश्वविद्यालय (1993-1996)

शोध : विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में 100 से अधिक संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में लेख

मार्गदर्शन : पीएच०डी० तथा एम० फिल 40 से अधिक उपाधिपात्र छात्र

सम्पादन : जम्मू यूनिवर्सिटी रिव्यू के वार्षिक अङ्कों का सम्पादन (1993-1996), ऋतम्भरा पत्रिका (जम्मू यूनिवर्सिटी) सहायक सम्पादक 1989

संस्कृत सम्मेलन : अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन, संस्कृत सम्मेलन तथा विश्व संस्कृत सम्मेलन में पत्र वाचन

प्रमुख अनुसन्धाता (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग) मम्मटोत्तरवर्ती भारतीय काव्यशास्त्र में नूतन अवधारणाएँ (1998-2001), चमत्कार सम्प्रदाय का आलोचनात्मक अध्ययन (सम्प्रतिकार्यरत) (2003-2004)

प्रकाशित पुस्तकें : पुराणानां काव्यरूपताया विवेचनम्, पुराणविमर्शः, साहित्यसुधासिन्धुः (हिन्दी अंग्रेजी भूमिका, मूलपाठ तथा हिन्दी अनुवाद) उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी से पुरस्कृत, चमत्कारविचारचर्चा (चमत्कारसम्प्रदाय प्रतिपादिनी कारिकावली)

मम्मटोत्तरयुग में भारतीय काव्यशास्त्र में नूतन अवधारणाएँ, त्रिविधाकाव्यसमीक्षा, भल्लटशतक (वेदकुमारी रामप्रताप) संस्कृत हिन्दी टीका तथा अंग्रेज़ी अनुवाद, उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी से पुरस्कृत, सांस्कृतिक और साहित्यिक निबन्ध (वेदकुमारी रामप्रताप), राजेन्द्रकर्णपूर (वेदकुमारी रामप्रताप हिन्दी भाषानुवाद सहित), ऊर्मिका (वेदकुमारी रामप्रताप संस्कृत कविता संग्रह), मेरे गीत तुम्हारे गीत (वेदकुमारी

BOOK
EASTERN EBL LINKERS

Please mail your order to :

Eastern Book Linkers

(INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS)

5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,

Delhi - 110007, Ph : 23850287, 30919869

e-mail: easternbook@mantraonline.com

ISBN 81-7854-060-6

9 788178 540603